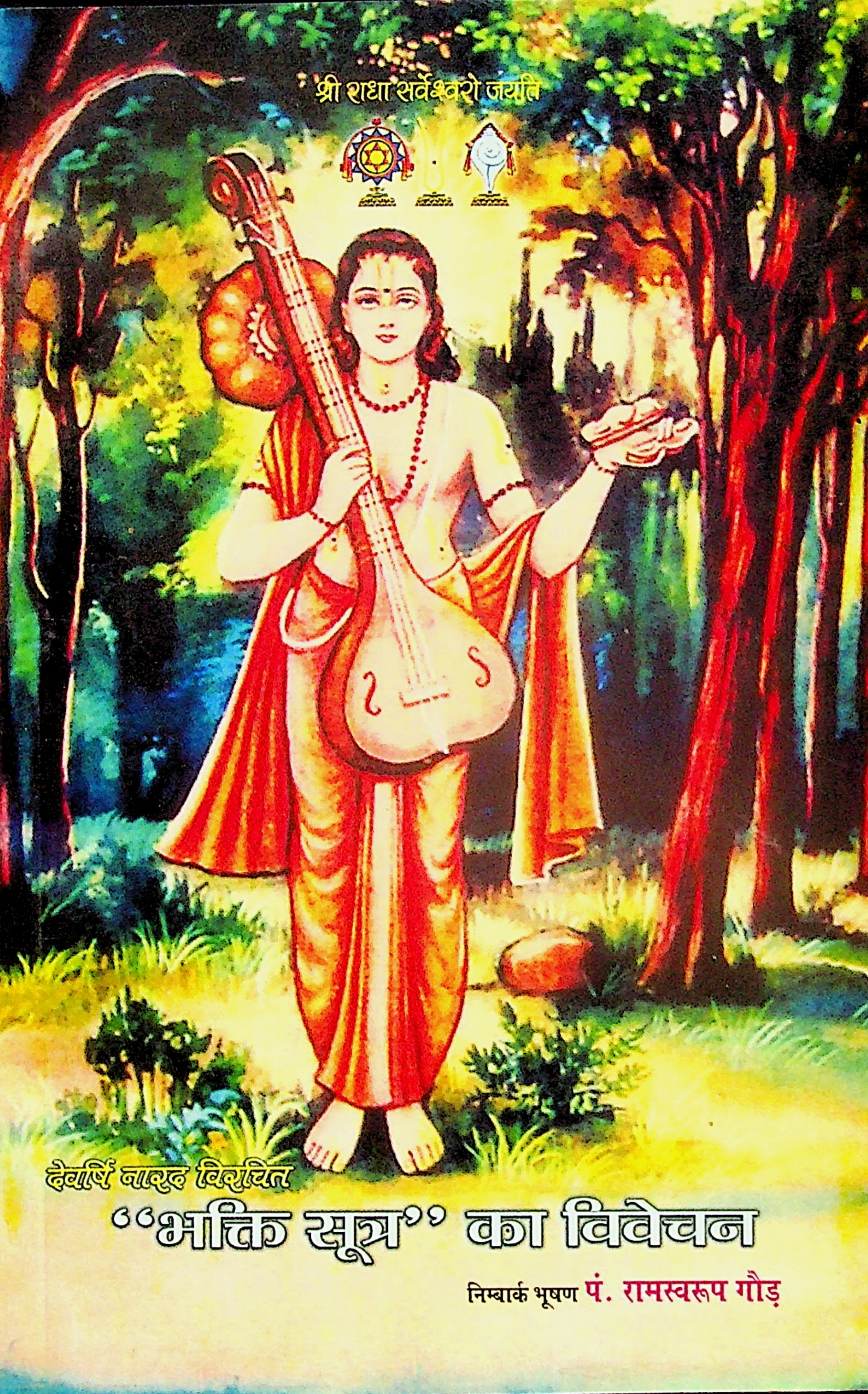
श्री राधा सर्वेश्वरो जयति



देवर्षि नारद विरचित

''भक्ति सूत्र'' का विवेचन

निम्बार्क भूषण पं. रामस्वरूप गौड़

देवर्षि नारद विरचित

भक्ति-सूत्र

का

विवेचन



'निम्बार्क भूषण' पं. रामस्वरूप गौड़

॥ श्री राधासर्वेश्वरों जयति ॥

ग्रंन्थ	–	देवर्षि नाराद विरचित **''भक्ति सूत्र'' का विवेचन**
प्रकाशक	–	अखिल भारतीय श्री निम्बार्काचार्य पीठ निम्बार्क तीर्थ (सलेमाबाद) किशनगढ़ अजमेर (राजस्थान)
विवेचन प्रस्तुति	–	निम्बार्क भूषण पं. रामस्वरूप गौड़
संस्करण	–	कार्तिक वि.सं. २०६२ नवम्बर २००५ ई.
न्यौछावर ...	–	१०/- अक्षरे रूपये मात्र
मुद्रक	–	जयपुर प्रिंटिंग सेन्टर, 2751522

दूरभाष : ०१४९७-२२७८२१
फैक्स : २२७९२१

मिति....................

श्रीमन्निखिलमहीमण्डलाचार्य, चक्रचूड़ामणि, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, द्वैताद्वैतप्रवर्तक, यतिपतिदिनेश, राजराजेन्द्रसमभ्यर्चितचरणकमल, भगवन्निम्बार्काचार्यपीठविराजित, अनन्तानन्त श्रीविभूषित

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर
श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज

श्रीनिम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद), पुष्कर क्षेत्र, किशनगढ़, जिला-अजमेर (राजस्थान) - ३०५८१५

की

॥आशीर्वादात्मक मङ्गलमयी अभिकामना॥

श्री भगवत्कृपा प्राप्ति के शास्त्रों में विविध साधन परिवर्णित हैं। उन सभी साधनों में सर्वोत्तम, सर्वोत्तकृष्ट, सर्व सुलभ साधन प्रेमा भक्ति ही परम उपादेय है। जिस प्रकार पुत्रवत्सला माता अपने आत्मज नवजात शिशु के चिन्तन में अभिरत रहती है, उसकी सर्वविध परिचर्या में स्वयं सब प्रकार के दुस्सह कष्ट सहकर उसके लालन पालन में तल्लीन रहती है किन्तु जब वही शिशु अपने प्रौढ़ावस्था में आकर समस्त कार्यों के सम्पादन में तत्पर हो जाता है तब उसी माता को फिर पूर्ववत उतना उसके चिन्तन में तन्मयता की अपेक्षा में अग्रसर होने का स्वाभाविक अवसर ही नहीं। इसी प्रकार अनन्त कृपापयोधि भगवान श्रीसर्वेश्वर भी अपने ज्ञानी भक्त का उतना अनुसन्धान नहीं करते जितना कि पराभक्ति सुधारसार्णव में आप्लावित विमल भक्त की और सहज ही स्वतः चिन्तन में निमग्न हो जाते हैं तभी तो आपने श्रीमद्भगवतगीता में ''भत्क्या त्वनन्या सक्तः'' ''ये यया माँ प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'' आदि वचनों से भक्ति को ही सर्वाधिक श्रेष्ठ माना है। ''श्रीनारदभक्ति सूत्र'' में देवर्षिवर्य श्री नारदजी ने भी ''भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी'' ''अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम'' इत्यादि दिव्य वचनों से भक्ति को ही परमोत्कृष्ट साधन वर्णित किया है।

वस्तुतः इसी आशय को सुदर्शन चक्रावतार आद्याचार्य वर्य श्री निम्बार्क भगवान अपने वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी में ''यया भवेत्प्रेम विशेष लक्षणा'' इस प्रेमा भक्ति का ही विश्लेषण किया है।

''श्री नारद भक्ति सूत्र'' में देवर्षिवर श्रीनारद जी ने गागर में सागरवत जो भक्ति का लोकोत्तर स्वरूप प्रतिपादित किया है वह निश्चय ही असीम अनिर्वचनीय एवं परम महनीय है। इसी भक्तिसूत्र का सरस सरल मधुरतम विवेचन विद्वन्मूर्द्धन्य पण्डित प्रवर श्री रामस्वरूप जी गौड़ ग्राम मोखमपुरा, जयपुर (राज.) ने अपने वैदुष्य पूर्ण विधा से किया है। वह सभी परम भागवत भगवज्जनों के लिए अनुपम उपादेय पाथेय है जिसके मनन से भक्तिरस की धारा स्वतः अपने अन्तः करण में प्रवाहित होगी। हम आपके सर्वतो भावेन अभ्युदय के लिए सर्वनियन्ता भगवान श्री राधासर्वेश्वर के युगल यदाम्बुजों में मुहुर्मुहुः अभ्यर्थना पूर्वक मङ्गल-कामना करते हैं।

मिति- कार्तिक कृष्ण ८ मंगलवार
वि. सं. २०६२
दिनाङ्क- २५/१०/२००५

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य
(पूज्य श्री श्रीजी महाराज)

श्री राधासर्वेश्वरो जयति

॥ श्री सविनय निवेदन ॥

परम प्रभु राधा सर्वेश्वर व पूज्य श्री ''श्रीजी'' महाराज के कृपा प्रसाद से ''भक्ति-सूत्र'' का विवेचन जिज्ञासा पूर्ण भाव विवेक से निसृत हुआ है। भाषायी ज्ञान और विद्वता मुझ में नहीं है। मन मानस में परम तत्त्व को जानने, समझने और यथार्थ का अनुभव करने की जिज्ञासा सतत बनी रही है। प्रभु कृपात: पूज्य श्री की प्रेरणा से इस अन्वेषणात्मक बुद्धि के कारण ही सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय-अनुशीलन व विवेचन में तत्परता हुई। हमारा यह विवेचन स्वानुविवेक व आध्यात्मिक चिन्तन पर आधारित है।

स्वयं अनुशीलन के लिए यह विवेचन 8-10 वर्ष पहले लिखा गया था। इतने वर्षों में सूत्र विवेचन के अनुशीलन व व्यवहार से तथा भावुक वैष्णवजनों को दिखाने पर यह सुझाव आये कि इसे प्रकाशित कराया जा सकता है। इससे भक्त साधकों को वैचारिक सहयोग मिल सकता है। जब यह विवेचन पूज्य पाद श्री श्रीजी महाराज को अवलोकन हेतु प्रस्तुत किया तो आपने प्रथम दृष्टया ही इसके प्रकाशन की अनुमति प्रदान कर दी। कृपा परिणामत: अन्त:स्फूरणा से अनुभव होता है कि यह भक्ति सूत्र का विवेचन देवर्षि ने ही हमसे यंत्रवत करा लिया है। परमभागवत महामान्य श्रीहनुमान प्रसाद जी पोद्दार की गीता प्रेस से प्रकाशित व्याख्या से हमने सूत्र लिये हैं व व्याख्या देखी है। निश्चय ही हमारे विवेक में इसका प्रभाव रहा होगा। अत: हम आपके आभारी हैं।

विद्वत्ता अभिव्यक्ति की भाषा व शैली की दृष्टि से इसमें त्रुटि हो सकती है। किन्तु भाव की दृष्टि से यह परमार्थी साधकों को सद्‌चिन्तन प्रदान कर सकेगा, इस आशा और विश्वास के साथ हमारा सभी परमभागवत पाठको से सविनय निवेदन है कि कृपा कर इसमें उपयोगी तथ्यों को ग्रहण करेंगे व त्रुटियों के लिए मुझे क्षमा प्रदान करते हुए यथातथ्य सुधार कर लेंगे।

भक्ति सूत्र के बारे में

भक्तितत्त्व के प्रवक्ता देवर्षि नारद जी ने भक्ति सूत्र को प्रारम्भ करते हुए भक्ति के भाव स्वरूप (परमप्रेमरूपा) भक्ति के प्रभाव स्वरूप (अमृत स्वरूपा)

भक्ति की प्रवृत्ति का महात्म्य (सिद्धौ-अमृतो-तृप्तो भवति) भक्ति की मनोस्थिति (न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति) प्रगाढ़ भक्त साधक की भाव प्रवृत्ति (यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धा भवति आत्मारामो भवति) आदि बताकर यथार्थ भक्ति को लौकिक कर्तव्य कर्म में सकाम भाव का त्याग पूर्वक परम प्रभु के प्रति अनन्य भावानुराग वाली व प्रभु भावानुराग विरोधी प्रवृत्ति के प्रति उदासीनता बर्तने वाली कहा है और भगवत भक्त को प्रभु के अतिरिक्त अन्य आसरे को त्याग देने वाला बताया है।

विभिन्न आचार्यों द्वारा भक्ति में कई प्रकार की अन्तराय प्रवृत्तियाँ बताई हैं- पाराशर द्वारा पूजा, गर्ग जी द्वारा कथा, शाण्डिल्य द्वारा आत्मरति व नारद जी द्वारा ब्रजगोपियों के अनुरूप श्री राधाकृष्ण के शरणागत भावना पूर्वक, प्रभु लगन व उत्कंठापूर्ण, अनन्य ध्यान स्मरण व विरह व्याकुलता वाली बताया है। एक उद्धरण द्वारा जार भाव का प्रेम व परम प्रेम विरोधाभासी बताते हुए कहा है कि प्रभु महात्म्य को जानने समझने से ही परम प्रेम होता है।

भक्ति को कर्मज्ञान व योग से अधिक श्रेष्ठ बताकर इन कर्म, ज्ञान, योग आदि की सफलता भी परमभक्ति भाव से ही कही गई है। यह भी कहा है कि भक्त तो ज्ञान योग के बिना, भाव से ही परमसिद्धि को प्राप्त हो सकता है। क्योंकि भक्ति तो स्वयं फलरूपा है। भगवान को अभिमान, द्वेष, भाव वृत्तियों रहित, निर्मल अन्तःकरण से दैन्य निवेदन व परम अनुराग प्रिय है। अतः यह भक्ति प्रभु कृपा फल प्राप्त है। अपने गुरुजनों का अनुशासन बताकर कहा कि ब्रह्मकुमारों ने भी भक्ति को स्वयं फलरूपा बताया है। उद्धहरण भी दिया- जैसे राजगृह व भोजन को देखने से तृप्ति नहीं होती। राज के सुखभोगने व भोजन के पाने से ही तृप्ति होती है। इसी तरह भगवान की स्वरूपतः प्राप्ति से ही तृप्ति होगी।

काम विषय का त्याग व कुसंग त्याग पूर्वक अनन्य प्रभु अनुराग से भगवान का निरन्तर भजन करना चाहिए। भगवन नाम स्मरण, विग्रहसेवा दर्शन, भगवतउत्सव, भगवतगुणलीला श्रवण व कीर्तन आदि भक्ति साधन प्रवृत्ति करते रहना हितप्रद है।

ये भगवतसाधन और भक्ति परम प्रेमानुरागी वैष्णवविभूतियों की कृपा से

प्राप्त होती है। अतः परम भागवत महात्माओं का सेवा संग करना हितकर है। भगवान व उनके भक्तों में अन्तर नहीं रहता। और इन्हीं परमतत्व अनुरागी हरि भक्तों को अपना गुरु बनाना हितकर है। ऐसे परम भावुक वैष्णव विभूतियों की सेवा करना हितप्रद है।

दुसंग को त्यागते हुए कामक्रोध, मोह, लोभ आदि प्रवृत्तियों को छोड़ देना उचित हैं। क्योंकि इनसे प्रभु अनुराग की हानि और प्रज्ञा बुद्धि का क्षय होता है जो पतन के हेतु है। यह काम क्रोध आदि मन में समुद्र की तरंगवत उठते हैं और विशाल आकार ले लेते हैं। अतः इनसे सावधान रहें क्योंकि यह ही माया में भ्रमाने वाले हैं। फिर माया से कौन तरता है?

सब तरह के विषय का त्याग व संसार में निष्काम, निर्लिप्त भाव से विचरता हुआ परमार्थी भागवत भक्त वैष्णवजनों की सेवा करता है और सासांरिक फलाकांक्षा से रहित होता है, ममतारहित होता है। सब तरह की विषयआकांक्षाओं से विरक्तचित्त व नियमित, शुद्ध, शांत स्थान पर प्रभु का ध्यान स्मरण करता हुआ शनैःशनैः मायाआवरण को क्षीण करके लौकिक ऋणानुबन्ध तोड़कर योग-क्षेम की चिन्ता त्याग, प्रभु शरणागत त्रिगुण प्रकृति के माया प्रभाव से परे हो जाता है। सब कर्म फलों को त्याग कर अत्यन्ता अवस्था में कर्मों से भी सन्यास ले लेता है और संकल्प विकल्प के द्वन्द से रहित हो जाता है। इस तरह वेदवर्णित लौकिक कर्मों से सहज ही ऋणमुक्त होकर निश्छल चित्त हुआ केवल परम प्रभु नित्य निकुन्ज विहारी श्री राधामाधव के प्रेमानुराग को प्राप्त कर लेता है। इस तरह जो निश्छल चित्त हो प्रभु प्रेमानुराग को प्राप्त करता है वह इस मायाविषयी संसार से तरता है और वह अपने निर्मल दिव्य प्रभाव से कई जीवों को तथा कई लोकों को भी तार देता है।

यह अविछन्न प्रेमानुराग का स्वरूप व अनुभव वाणी से कहने में नहीं आता। यह गूंगे के स्वाद की तरह स्वयं को ही अनुभव होता है और यह कभी-कभी किसी विरले पात्र में ही संपूर्ण रूप से प्रकट होता है।

यह परमप्रेम गुण व कामना रहित है अतः प्रतिक्षण नित्य नूतन रूप से बढ़ता रहता है। इस परम प्रेमानन्द में विच्छेद नहीं आता लीला स्वरूप व लीला

प्रकरण तथा भाव प्रकार बदलते हुए भी यह प्रेम नित्य नूतन व सतत वर्धमान अवस्था में अग्रसर रहता है और सदैव बना रहता है। यह परम प्रेम अतिसूक्ष्म और अविछन्न प्रेमानुरागी को ही अनुभव होता है। ऐसा अविछन्न प्रेमानुरागी ही प्ररम-प्रभु की मुधराती-मधुर नित्य निंकुञ्जस्थ लीला स्वरूप को परम प्रेम प्रवृत्ति से देखता है। श्यामाश्याम बिहारी की प्रेम प्रवण लीला व स्वरूप को देखता है। इस मधुर लीला की वाणी को ही सुनता है और उन प्रेम निधि युगल सरकार के लीला स्वरूप का ही चिन्तन व वर्णन करता है।

तीन तरह की गोणी भक्ति के लक्षण बताते हुए कहा है कि ये गोणी भक्ति भी उत्तरोत्तर क्रम से यथार्थ भक्ति में सम्मिलित हो सकती हे। यह भक्ति अन्य उपासना साधन से सहज सुलभ है और स्वयं प्रमाण है। यह भक्ति शांति स्वरूप व परमानन्द रूप है।

गोणी व यथार्थ भक्ति का अंतर बताने के लिए कहा- अनन्य प्रभु अनुरागी को लोक हानि की चिन्ता नहीं होती क्योंकि वे प्रभु के शरणागत व समर्पित हो चुके हैं। गोणी भक्ति से तत्पर को परमभक्ति में सिद्धि न मिले तब तक लोक व्यवहार का त्याग नहीं करना चाहिए। फलाकांक्षा त्याग कर कर्तव्य कर्म करते हुए भक्ति साधन करते रहना हितावह है। भक्ति में साधक भक्त के स्त्री, धन, नास्तिक, और वैर द्वेष के व्यवहार तथा ऐसे चरित्रवान बाधक हैं। अतः इनसे लौकिक महत्व का संसर्ग नहीं करना चाहिए। प्रभु को सब आचरण समर्पण करते हुए साधक अन्त में अगर, काम, क्रोध, मद, अभिमान आदि भी हों तो उन्हें प्रभु के समर्पित कर देना चाहिए अर्थात प्रभु से दैन्य भावपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिए कि हे प्रभु हमें इन विकारों से बचाओ।

इस तरह गोणी भक्ति से भी शनैःशनैः प्रभु शरणागति का भाव सिद्ध हो जाता है और प्राकृत त्रिरूप सम्बन्ध का भंग हो जाता है। त्रिरूप भंगता उपरान्त साधक को परम प्रभु का नित्यदास, नित्यकान्ता आदि भाव से प्रेमानुराग करना चाहिए। गोणी भक्ति से परम प्रेम के मार्ग में आने वालों को प्रभु का विशेष प्रेम चाहने के लिए समस्त लौकिक संग त्याग कर एकान्त में प्रभु का ध्यान, भजन करना हितप्रद है। इससे प्रभु प्रेम चित्त में स्थायी रूप से स्थापित हो जाता है।

अनन्य भक्ति स्थिर हो जाने पर साधक व्यक्तित्व पर क्या लक्षण घटते हैं यह बताते हुए नारद जी कहते हैं कि- भक्त प्रभु कीर्तन स्मरण करते हुए गद्‌गद् कंठ हो जाता है। हरि के नाम पर ही रोमांच होने लगता है। परम प्रेम में अश्रु धारा नेत्रों में छलकने लगती है और भक्त, भावुक होकर भगवान से संभाषण भी करने लगता है। ऐसे परमप्रेमी भक्त का महात्म्य बताते हुए नारद जी ने कहा- अनन्य प्रेमी भक्त अपने कुल, देश, समाज और पृथ्वी को पावन कर देता है। पावन भक्त वैष्णव के पदार्पण से तीर्थ सुतीर्थ हो जाते हैं उनके द्वारा किये कर्म व कर्तव्य सुकर्म बन जाते हैं उनके पठनीय मननीय शास्त्र सद्‌शास्त्र हो जाते हैं और उनकी वाणी सिद्ध आर्षवचन हो जाते हैं। क्योंकी वे एक ही भाव से परमप्रभु में तन्मय हो गये हैं। उनमें व प्रभु में भावनात्मक रूप से कोई अन्तर नहीं रहा है। ऐसे भक्तों को देखकर पितृगण प्रमुदित होते हैं देवता नृत्य करते हैं और पृथ्वी कृतार्थ हो जाती है। अनन्य भक्त जाति, कुल, रूप, विद्या, धन आदि क्रिया भेद के बर्ताव से परे हो जाते हैं। इसीलिए वहाँ सांसारिक कर्म कर्तव्य का भेद नहीं रहता। भक्ति में भाव की निरन्तरता के बाद वाद-विवाद का भी अवसर ही नहीं है।

भक्ति साधन की प्रगाढ़ता के लिए भक्ति शास्त्र का मनन करते हुए भाव समृद्धि कारक सत्कर्म करते रहना उचित है क्योंकि तब तक निरन्तर निष्काम कर्म व भगवतभजन मे संलग्न रहना चाहिए जब तक सुख-दुख इच्छा लाभ आदि का मन पर प्रभाव होता रहता है। यथार्थ भक्ति सब तरह की मनोव्यथाओं से रहित होने पर ही प्रकट होती है। और मनो व्यवस्था रहित चित्त ही यथार्थ भक्ति की पात्रता है। भक्ति की पात्रता पाने के लिए साधक को कर्मप्रभाव प्रदीप्त रहने तक अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय धर्म सदाचार के पालन को हितावह बताया है और कहा है कि निष्काम धर्माचरण करते हुए साधक को सर्वदा सब वासनाओं से रहित हो निश्चित होकर भगवान का भजन ही करना चाहिए।

इस तरह देवर्षि नारद जी ने भक्ति के स्वरूप, प्रकार, प्रवृत्ति, अन्तराय, भक्ति के लक्षण, साधक के लक्षण, साधक पर घटने वाले घटनाक्रम, आचरण, दिनचर्या आदि धर्मप्रवृत्तियों को बताकर असत व भक्ति विरोधी प्रवृतियों से

सावधानी बताते हुए भक्ति की सभी प्रणालियों में एक मात्र भगवत प्रेमानुराग को ही सर्वश्रेष्ठ बताया और विशिष्ट रूप से बोध कराया कि भगवान प्रेम पूर्वक नाम कीर्तन स्मरण से ही भगवान प्रसन्न होकर शीघ्र प्रकट होते हैं और भक्त को अपना अनुभव करा देते हैं। और कहा कि त्रिसत्यों में भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है अतः भक्ति को ही ग्रहण करना चाहिए।

श्री हंसभगवान, सनकादिक ब्रह्मकुमार व भक्त तत्वज्ञ वैष्णवाचार्य देवर्षि नारद से दीक्षित आद्याचार्य से निम्बार्क भगवान से परमप्रेम भक्ति की यह परम्परा अध्यावधि तक निम्बार्क सम्प्रदाय के रूप में प्रवृत्तमान है।

परम भागवत वैष्णवजन को यह विवेचन सविनय सादर समर्पित है।

आचार्य श्री चरणरज रेणु

निम्बार्क भूषण पं. रामस्वरूप गौड़

भक्ति सूत्र

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ 1 ॥

आचार्य देवर्षि नारदजी श्रीहंस भगवान, सनत्कुमारादि की परम्परा को उत्तरोत्तर प्रशस्त करते हुऐ भक्ति के सूत्र (सिद्धान्त) कहते हैं, जिसका अनुगमन श्री निम्बादित्य आदि वैष्णवाचार्यों ने किया। ''अब मैं तुम्हारे लिए वेदान्त के आधार पर सहज रूप में जीव को विषयों से मुक्ति प्रदान कराकर प्रभु से मिलाने वाली, ईश्वर दर्शन कराने वाली, रसानन्द भक्ति की विशेष रूप से व्याख्या करता हूँ।'' भक्ति सब प्राणियों के लिए कल्याणकारक है और कलयुग के लिए यह विशेष रूप से उपादेय है। भिन्न-भिन्न युग व अलग-अलग कर्मावरण वृत्ति के साधको के लिए परमात्मा श्री सर्वेश्वर प्रभु को प्राप्त करने हेतु वेद में विभिन्न उपासनाए कही गई हैं। वे सब के लिए सहज साध्य नहीं है। अतः मैं अब सभी के लिए सुलभ भक्ति की व्याख्या करता हूँ, जो सर्वकालीन व सार्वभोम रूप से कल्याण प्रदायनी है।

नारदजी ने ब्रह्मसूत्र के रचियता वेद व्यासजी को भी जब उन्हें वेद-वेदान्त की व्याख्या व पुराणदि की रचना करने से भी संतुष्टी नहीं हुई तब उन्हें पूर्ण आत्म-तुष्टि के लिए सर्वेश्वर श्रीकृष्ण की भक्ति का ही उपदेश किया था। जिससे प्रेरित होकर वेदव्यास जी ने श्रीमद्भागवत की रचना की। कलयुग में ज्ञान-योग-तप-दान-यज्ञ-कर्म आदि से मुक्ति सहज नहीं है कलयुग में भावापन्न भक्ति ही सहज साध्य है। भक्ति के अवलम्बन हेतु ''मैं अब भक्ति की व्याख्या करता हूँ'' नारदजी ने इस संकल्प के साथ इस भक्ति सूत्र का उपदेश किया।

सा त्वस्मिन् परमं प्रेम रूपा ॥ 2 ॥

इस भक्ति का रूप कैसा है ? इस जिज्ञासा का निराकरण नारदजी इस सूत्र में करते हैं। ''तुम इसे परम प्रेम रूपा समझो'' जो समस्त श्रेय का एकमात्र अधिष्ठाता है सब की गतिमति व प्रवृत्ति का संचालक है वह 'परम' है। इस संसार की प्रवृत्ति परम पुरुष विष्णु से ही है। विष्णु के पूर्ण अवतार परम प्रभु श्री कृष्ण है और ऐसे ही विष्णु के अन्य परशुराम, राम आदि अवतार भी है।

विष्णु अवतार के अतिरिक्त दूसरे जो गणेश, शिव, शक्ति, सूर्य व आत्म प्रभा आदि परम स्वरूप है। वे भी विष्णु के ही प्रभा स्वरूप हैं और उन स्वरूपों में श्रद्धा भाव से भक्ति उपासना करने वालों को भी विष्णु ही श्रद्धा के अनुरूप परिणाम प्रदान करते हैं। जो वैष्णव परम्परा से भक्ति उपासना करता है उसको सहजता व सरलता से परमार्थ उपलब्धी होती है। ब्रह्मानन्द बल्ली में ''रस'' से प्रकृति की उत्पत्ति व दो तरह की मानव प्रवृत्ति बताई है। एक को ''प्रेय'' कहा गया है। दूसरी को ''श्रेय'' कहा जाता है। ''प्रेय'' दक्षिणायन मार्ग आवागमन की वृत्ति है ''श्रेय'' उत्तरायण मार्ग परमानन्द की वृत्ति है। निष्काम भाव से ईश्वर समर्पण पूर्वक की जाने वाली धर्म-वृत्ति व अनन्य प्रभु अनुराग ही ''प्रेम'' है। इन्हें परा व अपरा भी कहते हैं, यह अनन्य प्रभु प्रेम ही ''परम प्रेम रूपा'' भक्ति है। इसमें वासना-विकार नहीं है। अतः प्रभु श्रद्धामय उत्तरायण या परामार्ग श्री हरि की भक्ति का मार्ग है। इस परम प्रेम मार्ग की स्वामिनी श्री राधाजी है। जो श्री कृष्ण लीला में साक्षात् रूप से लीला चरित्र करने पधारी। राधाजी की श्री कृष्ण से अभिन्नता हैं वे ही परम प्रेमी भक्तों को परमाश्रय प्रदान करती हैं। परम श्री कृष्ण व परामूर्ति श्री राधा एक ही भाव से भावित हैं ''एतदालम्बन श्रेष्ठ एतदालम्बन परम'' यह श्री राधाकृष्ण की प्रेमाभक्ति ही परम अवलम्बन व अति श्रेष्ठ है।

अमृत स्वरूपा च ॥ 3 ॥

जगत के विषय विकारों से सर्वथा-निर्दोष होने के कारण यह भक्ति अमृत रूपा है व परम प्रेमी को परम रसामृत से तृप्त करने वाली है। मृत मय जगत में अमृत रूप परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है। जो जगत की मृतमय वासनाओं से निर्लिप्त हो जाता है उसे अमृत की अनुभूति होती है। क्योंकि यह भक्ति-रस अमृत स्वरूपा है। ''स्वरूप'' का उल्लेख यहाँ विशेष रूप से किया गया है। भक्ति मय वृत्ति से दिव्य स्वरूप राधा-कृष्ण की साक्षात अमृतस्वरूप कृपा होती है। भक्ति से लौकिक जीवन में भी सिद्धी प्राप्त होती है व परमार्थ रूप से प्रभु की कृपा भी प्राप्त होती है। जो अपने ईष्ट की परम प्रेम रूपा भक्ति करता है वह दोनों ही तरह से अमृत स्वरूपता को प्राप्त होता है क्योंकि यह भक्ति अमृत स्वरूपा है।

धर्मपरायण परमेश्वर समर्पित कर्म व प्रभु-भक्ति, श्रेय मार्ग और विद्या है। अतः कहा है "अविद्यायां मृत्युतीर्वा विद्यायामृतमश्नुते।" अविद्या रूप शरीर साधन से निस्काम कर्म करते हुए चित्त की स्मृति-वृत्ति रूप बीज से निवृत हो मृत्यु रूप आवागमन से पार हो जाते हैं तथा सर्वेश्वर श्री कृष्ण की भक्ति उपासना रूप विद्या से अमृत आनन्द अवस्था को पा लेते हैं।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति तृप्तो भवति ॥ 4॥

जो मन कर्म वचन द्वारा सहज रूप से भक्ति में स्थित हो जाता है। जिसकी प्रभु श्री राधा-माधव शरणागति से रहित कोई प्रवृत्ति नहीं है। जो सर्वथा अपने ईष्ट प्रभु के प्रति समर्पित हो गया है। वह स्थिर निष्ठा को प्राप्त भक्त सिद्ध हो जाता है। भक्त लौकिक प्रताप के लिए सिद्धि नहीं चाहता लेकिन जिन सिद्धियों के लिए अनान्य योगी लोग परम तप करते हैं, वह सिद्धियाँ इस अनन्य भक्त को स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। भक्त इन सिद्धियों का अपनी लौकिक यश कीर्ति और सांसारिक योग-क्षेम के लिए उपयोग नहीं करता वह तो परम भक्ति में ही मस्त रहता है और निष्काम लोक प्रवृत्ति करता है। प्रभु कृपा से भक्त जिस पर कृपालू हो जाता है उसका सर्व विध कल्याण हो जाता है। ऐसे भक्त का योग क्षेम श्री हरि स्वयं वहन करते है। सिद्धियों का त्यागी परम भक्त श्री हरि के नाम सुमिरण व लीला श्रवण, मनन और कीर्तन में सततः संलग्न रहता है। **निरन्तर भक्ति में संलग्न भक्त अमृत भाव हो जाता है**। परम निष्ठावान भक्त की समस्त वासनाये क्षीण हो जाती है और पराभाव को प्राप्त कर लेता है। परम भक्त प्रभु का साक्षात् दर्शन करके तृप्त हो जाता है। वह सतत् तथा सर्वत्र श्री राधा-कृष्ण के सानिध्य का अनुभव करता हुआ क्लेशों से व्यथित नहीं होता। यह ही ईश्वर से अभिन्न सर्वात्मदर्शी "भूमा" अवस्था है यह सिद्ध अवस्था विज्ञानानन्द मय स्थिति है। सिद्धियों की असाक्ति में उलझे सिद्ध का पुनः पतन हो सकता है। लेकिन भक्त का शरणागति भाव सिद्ध होने पर पतन नहीं होता है। अमृत तृप्त स्थिति आनन्द कोष स्थिति है। इसे ही आनन्दमय व आत्म रति कहते हैं। भक्त को यह सहज ही प्राप्त होती है।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाच्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साहि भवति ॥ 5॥

परम प्रेमी भक्त इस तृप्त भाव भूमि को प्राप्त करके ना तो कोई लौकिक इच्छाये करता है।

भक्त लौकिक इच्छाये क्यों नहीं करता? क्योंकि अमृत स्वरूप भक्त की सभी इन्द्रिय क्षुधायें और वासनायें क्षीण हो जाती हैं अत: परमभक्त को भोगेच्छायें नहीं होती। विषय वासनायें व कामनायें क्षीण हो जाने से लौकिक चिन्तायें नहीं सताती। व्यक्तिगत महत्वकांक्षा के नष्ट हो जाने से वह किसी भी प्राणी से द्वेष नहीं करता है। सर्वत्र ईश्वर की सत्ता का अनुभव कर सभी में ईश्वर को स्थित देखता है और लौकिक जगत में रहते हुए भी कर्म-वृति में आसक्त नहीं होता। धन पुत्रादिक ऐषणाओं के प्रति उसका कोई उत्साह नहीं होता। परम भक्त की कर्म प्रवृत्ति का उत्साह परम परायण होता है।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ॥ 6 ॥

जो भक्त परम श्रद्धा से ज्ञानस्वरूप श्री कृष्ण व रस रासेश्वरी श्री राधाजी का ज्ञेयत्व प्राप्त कर लेता है अर्थात जिसे परमेश्वर का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है जिसका ज्ञान व ज्ञाता का आवरण क्षीण हो जाता है वह भक्त गोविन्द के नित्य निकुंज विहार को देख-देख कर आनन्द रस में मस्त हो जाता है, श्री श्यामा-श्याम विहार को देखकर स्तब्ध हो जाता है। उसकी लौकिक वृत्तिया अवरूद्ध हो जाती हैं और वह सर्वात्मा श्री कृष्ण के कृपा निकुंज में ही विहार करने लगता है और युगल सरकार के संग-संग भाव रमण करता रहता है। ऐसा परम प्रेम भाव को प्राप्त नित्य-निकुंज में सम्मिलित हो जाता है। अपने ईष्ट प्रभु में अविचलित भाव से स्थित भक्त परम प्रभु को जानकर मनमस्त हो जाता है विषय चंचलता त्यागकर हरि चरणों में सम्मिलित हो जाता है और परमात्मा श्री हरि की लीला में ही रमण करने लगता है। यह ज्ञानमय व आत्माराम मय या आनन्द परिपूर्ण स्थिति होती है। इसे ही केवल्य भाव कहते हैं। परम प्रेमी भक्त को यह अविचल प्रभु कृपा सहज ही सदा-सर्वदा के लिए प्राप्त हो जाती है। प्रभु से अभिन्न, परम भावापन्न स्वरूप में भक्ति की इस परमोच्च्य स्थिति का व्याख्यान करने के बाद नारदजी भक्ति में वृतिगत उपस्थित होने वाले अंङ्गो का व्याख्यान करते हैं।

सा न कामयमाना निदोधरूपत्वात् ॥ 7 ॥

वह भक्ति कामनामय नहीं है। क्यों? काम, भोग, वासना से उत्पन्न होता है, और अश्रद्धा व अविश्वास के साथ ईर्ष्या, क्रोध आदि को उत्पन्न करता है। भक्ति में परमेश्वर के प्रति समर्पण होता है, श्रद्धा व विश्वास होता है। भक्त में आसक्ति नहीं होती है, इन्द्रियों का वासनामय लालच नहीं होता है। भक्ति में सहज स्वभाविक रूप से ईश्वर की सत्ता के प्रति विश्वास व अपनी निष्काम कर्म वृत्ति से प्राप्त फल के प्रति संतोष होता है अत: श्री हरि की भक्ति समस्त कामनाओं की निरोध रूपा है। जब भक्त दीक्षित होता है तब गुरू-हरि शरणागति के साथ समस्त विषय कामनाओं से उसका निरोध प्रारम्भ हो जाता है। जो भक्ति कामना से युक्त होकर की जाती है वह परम श्रेय रूपा नहीं है, वरन् भौतिक सुख सम्पदा की प्रेय कामी है। शुद्ध ईश्वर शरणागत भक्ति ही परम-प्रेम-रूपा है।

नरोधस्तु लोक वेदव्यापार न्यास: ॥ 8 ॥

लौकिक व वैदिक सकाम कर्म व्यय परक वृत्तियां है। आसक्ति का परम प्रभु की शरणागति पूर्वक कर्म समर्पण ही त्याग है। इस शरणागति को ही परम भक्ति में लौकिक वैदिक कर्म का निरोध कहते हैं। योगी शमदम के लिए जिन तप साधनाओ का अवलम्बन करते हैं, इन्द्रिय निरोध के लिए अन्य भी जो कोई हठ योग के दूसरे उपाय बताये गये हैं, त्याग-वैराग्य के लिए जो कई साधन कहे गये हैं। वे सब निन्दा-द्वेष व देह यातना वाले कठिन साधन है परम प्रेम भक्ति के लिए वे सब अनिवार्य नहीं हैं। वरन भक्ति में तो ईष्ट युगलवर श्री राधा-कृष्ण के प्रति श्रद्धा शरणगति के साथ समस्त लौकिक वैदिक कर्मो का समर्पण ही प्रपंच निरोध हेतु यथेष्ठ है। प्रभु-श्रद्धा, प्रभु, स्मरण व प्रभु-शरणागति पूर्वक सेवा-संकीर्तन से ही शनै: शनै: इन्द्रियों का निरोध होने लगता है।

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ 9 ॥

परम प्रेमनिधि कुंजबिहारी श्रीहरि के प्रति अविचलित अनन्य श्रद्धा से व परमेश्वर के प्रतिकूल असात्विक व अधार्मिक कार्यों के प्रति उदासीनता द्वारा पूर्वोक्त लौकिक प्रपंच व क्लेश कर्मों का निरोध सम्भव होता है।

भक्त को अपने परम ईष्ट परमेश्वर का ही सदैव आश्रय-स्मरण रखना चाहिये। भगवद् भक्ति का उद्दीपन करने वाली प्रवृत्तियाँ सम्पादित करनी

चाहिये। सत्य अहिंसादि धर्म तत्त्वानुसार सात्विक व्यवहार करना चाहिये। लाभ-हानि सुख-दुःख क्लेश-पीड़ा पर ईश्वरीय व्यवस्था को कोसना नहीं चाहिये। जीवन को ईश्वरीय सत्ता के अधीन कर्मों की परिणति मानते हुए प्रभु समर्पण भाव से भोगना चाहिये और अहंकार रहित, दैन्यभाव पूर्वक प्रभु की भक्ति करनी चाहिये यही प्रभु-भक्ति के अनुकूल वृत्ति है। नास्तिक अधार्मिक प्रवृत्तिया प्रभु भक्ति के प्रतिकूल है। इन अपराधिक प्रवृत्तियों से उदासीनता ही विषय निरोध प्रदान करती हैं।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽन्यता ॥ 10 ॥

पूर्वोक्त अनन्यता किसे कहेंगे ? नारदजी इसका व्याख्यान करते हैं। जगत में अन्य-अन्य जो आश्रय है उनके त्याग व एकमात्र प्रभु निष्ठा को अनन्यता कहते हैं। जगत में भिन्न-भिन्न आश्रय देखे जाते हैं जैसे लौकिक देवी-देवता व भौतिक धन-संपदा को श्रेष्ट आश्रय समझना और संपदा-संग्रह तथा धनोपार्जन ही अपना श्रेष्ठ लक्ष्य मानना। धन संपदा के साथ पुत्र-सन्तति, स्त्री, बन्धु-बाधव को सुख का आधार मानना। धन सम्पदा के लिए ही लौकिक कर्म व उपासना करना। यह भौतिक वस्तु को सुख का आधार मानने वाले, परम प्रभु से भिन्न, अन्य आश्रय अवलम्बि है। जो जगत के इन लौकिक आश्रय को श्रेष्ठ नहीं मानकर इन्हें प्रभु श्री कृष्ण की सत्ता के अधीन मानते हुए शरणागति पूर्वक निष्ठा भाव से सात्विक जीवन जीते है और निरन्तर नियमित प्रभु का भजन स्मरण करते हैं। पुरूषार्थ करते हुए वैभव-विलास के लिए उत्सुक नहीं रहते वरन जीवन के विविध कर्म परिणाम को श्री हरि का कृपा प्रसाद मानकर संतोष पूर्वक जीवन व्यवहार करते हैं। ऐसे लौकिक व धार्मिक अन्य आश्रय त्यागी परम प्रभु में अनन्य निष्ठा वाले हैं प्रभु के अनन्य परम भक्त हैं। यही अनन्य परा भक्ति है।

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥ 11 ॥

पूर्वोक्त कथन को और स्पष्ट करते हुए नारदजी कहते हैं-लौकिक व वैदिक कर्मो को श्रद्धा के साथ यथायोग्य मर्यादा पूर्वक करना चाहिए। भक्ति में कर्म प्रवृत्ति का त्याग सामान्यतः नहीं बताया गया वरन पुरषार्थ का संपादन धर्म मर्यादा पूर्वक बताया गया है। निस्काम मर्यादा के आचरण से निर्मल भाव की

प्राप्ति होती है। कर्म-आवरण क्षीण होता है चित्त के मलावरण हटते हैं और स्वाभाविक सत्व प्रवृत्ति होने लगती है। आशा व विश्वास के साथ परम ईष्ट श्री राधा-माधव के स्मरण में चित्त लगने लगता है। सहज ही अन्त:करण में विषय निरोध होने लगता है। अत: भगवद् भाव को कुण्ठित करने वाले अमर्यादित आचरण को उदासीनता पूर्वक त्याग देना चाहिए और भगवद् भावानुकूल सात्विक धर्माचरण करना चाहिए।

अन्त:करण में विषय आसक्ति व विषयों में प्रवृत्ति संग-दोष से होती है। अत: अन्त:करण व इन्द्रियों को विषयासक्त प्रसंग से उदासीन व विषयासक्त प्रभाव से दूर रखना चाहिये। काम-क्रोध व द्वेष-लोभ आदि के प्रसंगों को देखना सुनना व स्मरण-स्पर्श नहीं करना चाहिये, तामसिक-भोजन, अश्लील-गान कथा व सिनेमा आदि से दूर रहना चाहिए। इसके विपरीत प्रभु लीला चरित्र को देखना-सुनना, भजन-गाना, साधु-संग करना, कीर्तन-करना, सात्विक शुद्ध भोजन प्रसादपाना, माता-पिता, गुरूजन आदि बड़ों का सम्मान करना, विनम्र रहना, अपने कर्त्तव्यों को निष्ठा से करना, नियमित श्रीहरि स्मरण करना, शास्त्रा अनुकूल आचरण करना आदि लौकिक व्यवहार प्रभु भक्ति के अनुरूप हैं।

भवतु निश्चय दाढ़्यार्दूर्ध्वं शास्त्र रक्षणम् ॥ 12 ॥

धर्म-मर्यादा के आचरण व श्रीहरि के नियमित निरन्तर स्मरण से भक्त हृदय में भगवान के प्रति दृढ़ विश्वास स्थिर हो जाता है ऐसी, स्वाभाविक अविचलित भक्ति हो जाने पर भी वेदादि शास्त्रों में वर्णित मर्यादा का पालन व शास्त्र मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए। भक्ति में दृढ़ अनुरति होने लगे तब कोई समझ लें कि अब उसके लिए धर्म-सदाचार की, माता-पिता, साधु-सन्त, गुरूजन-सेवा-संग, प्रभु-विग्रह के दर्शन-सेवा, नियमिति-संध्या आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे भ्रान्त निश्चय का निराकरण करने के लिए नारदजी कहते हैं। स्वभाविक भक्ति प्रवृत्ति होने पर भी शास्त्र के अनुकूल आचरण करते रहना चाहिए। इस आचरण को देखकर अन्य लोगों की शास्त्र मर्यादा के प्रति श्रद्धा बनेगी और भक्ति भी उत्तरोंत्तर श्रेष्ठता की और अग्रसर होगी। जो इस शास्त्रीय मर्यादा से उदासीन हो जाते हैं उन्हें सतर्क करने के

लिए नारदजी कहते हैं।

अन्यथा पातित्याशङ्कया ॥ 13 ॥

जो भक्त शास्त्रीय मर्यादा को त्याग देगा उसके पतित होने की शंका रहती है। परम्परागत भक्ति सम्प्रदाय के सदाचरण, साधू-संग, लीला-स्मरण व निष्काम भाव से भगवद्-भजन प्रवृत्त होता है। सम्प्रदाय नियम से भजन करने पर अनायास ही भगवान की भक्ति में मन लगने लगता है। शास्त्र का अर्थ समझ में आने लगता है। मन-कर्म-वाणी शुद्ध होने लगते है। श्रीमद् गुरू कृपा से कभी-कभी कुछ चमत्कार भी हो जाते हैं आस-पास के लोगों में ख्याती होने लगती है। किसी-किसी को विशेष भौतिक लाभ भी हो जाता है। सामान्यतः लोग आदर देने लगते हैं कभी किसी को भौतिक हानि दैहिक कष्ट और लोक में अनादर भी हो जाता है। ऐसी स्थिति में कोई भक्त, भक्ति की नियमित मर्यादा को छोड़ दे और विनम्रता त्याग कर गर्व या ग्लानी करने लगे, लौकिक समृद्धियों का ही लोगों को उपदेश करने लगे, नियमित हरि सेवा को त्याग दें तो उसका भक्ति से पुनः पतन होने का डर रहता है। लौकिक संग में जाने से प्रभु में चित्त नहीं लग पाता है। अतः भजन के प्रति जो विश्वास उत्पन्न हो गया था वह डिग जाता है।

लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वा शरीरधारणावधि ॥ 14 ॥

भक्त के यह लौकिक कर्म कब तक रहते हैं ? इस विषय में कहते हैं-यह लौकिक कर्म तो तब तक करते रहो जब तक कि इन कर्मों की वृत्ति चित्त में बनी रहती है। नियमित निरन्तर भजन करते-करते जब समस्त कर्म स्मृतियां नष्ट हो जावेगी तो स्वभावतः ही लौकिक कर्तव्य शेष नहीं रहेंगे। जब एक मात्र अपने ईष्ट परम प्रियतम श्री राधा-माधव की ही स्मृति सर्वदा शेष रहेगी तब इन लौकिक कर्मों का बाह्य बोध व कर्म प्रवृत्ति मिट जायेगी। कर्तव्य कर्मों के इस स्वाभाविक त्याग के बाद एकमात्र श्री श्यामा-श्याम बिहारी की ही स्मृति शेष रहेगी किन्तु जब तक शरीर रहेगा तब तक भक्त को भोजनादि व्यवहार तो शरीर साधन के लिए करते रहना है। क्योकि इससे ही श्री हरि की धारणा और सेवा भक्ति सम्भव होती है अतः भक्त को प्रसाद स्वरूप भोजनादि ग्रहण करते

रहना चाहिए।

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामत भेदात् ॥ 15 ॥

अब भक्ति के विभिन्न लक्षणों व भेद को कहते हैं जो भिन्न-भिन्न मतों में प्रमुखता से उल्लेखित हैं।

पूजादिष्वनुराग इति पराशर्यः ॥ 16 ॥

पाराशर पुत्र व्यासजी भगवान की पूजा में अनुराग को भक्ति कहते हैं। पूजा व सेवा के कई प्रकार है। प्रथमतः प्रभु विग्रह की पूजा है। मंदिर प्रतिष्ठित विग्रह की पूजा सेवार्थ सहयोग करना, दर्शन करना अर्घ्य, पाद्य-नैवेध्य प्रभु के अर्पित करना और श्री राधा गोविन्द के अर्पित प्रसाद को ग्रहण करना, प्रभु विग्रह के सामने नाम-धुन, कीर्तन, परिक्रमा आदि करना देवालय आदि धर्म कार्य में सहयोग देना, सेवा-पूजा भक्ति है ऐसे ही नियमिति संध्या वन्दन आदि व शालीग्राम सेवा, पूजा भक्ति है।

प्रभु पूजा-सेवा के प्रति श्रद्धा अनुराग वैष्णव भक्ति परम्परा का प्रमुख लक्षण है। धर्मस्थानों व धर्म कार्यों की समृद्धि दान से ही होती है। श्रद्धा व अनुराग से ही मंदिर व देव प्रतिमा की पूजा व्यवस्था सामुहिक रूप से होती है। परम्परागत संस्कृति से सामुदायिक धर्म श्रद्धा सम्पन्न होती है। धर्म कार्यों में लोग मिलकर सेवार्थ जुड़ जाते हैं। सेवा अनुरागी लोग, भक्तों सन्तो व दीन-दुःखियों की सेवा, तन-मन-धन से ईश्वर-पूजा मानकार करते है। ईश्वर पूजा अनुराग से प्रेरित होकर जो कोई यथायोग्य सेवा कार्य करता है उसके पाप क्षीण हो जाते हैं मन में निर्मलता आती है, अनायास ही शुद्ध भक्ति का उदय होने लगता है। सहिष्णुता व विनम्रता के साथ प्राणियों में ईश्वर की उपस्थिति का भावानुराग पनपने लगता है। मानव समुदाय में परस्पर स्नेह-सोजन्यता व सामुदायिक उत्थान का भाव उत्पन्न होता है। धर्माचरण सेवा पूजा का ही एक अंग है। जो श्रद्धा पूर्वक प्रभु सेवा-पूजा के प्रति अनुराग रखता है उसी का धर्म के प्रति भी अनुराग होता है। प्रभु श्रद्धानुरागी जीवन में धर्माचरण पूर्वक अपने कर्तव्य का सत्य-निष्ठा से पालन करता है। ईश्वर अनुरागी, धर्माचरण के पालन से चतुर्थ पुरूषार्थ की सिद्धी के साथ निर्मल चित्त होकर परम प्रभु की विशेष कृपा प्राप्त करता है।

कथादिस्विति गर्गः ॥ 17 ॥

प्रभु लीला-कथा में अनुराग भक्ति का दूसरा विशिष्ट लक्षण है। श्री राधा कृष्ण लीला अनुराग से गर्गाचार्य जी ने परम भक्ति को प्राप्त किया है। वेदादि शास्त्र का कथन, ऋषि, साधु, ब्राह्मण उपदेश, प्रभुस्तव स्तुति महिमा गान प्रभु लीला चरित्र की कथाये, साधु चरित्र व तीर्थादि स्थानों की महिमा, भक्त चरित्र और ऐसे ही भक्ति भाव को समृद्ध करने वाले कथोप-कथन कथा कहलाते हैं। कथा श्रवण मनन से प्रभु अनुराग व प्रभु भक्ति भाव का जागरण होता है। कथा सत्संग से सद् प्रेरणा उत्पन्न होती है। मन की विषय वासनायें दूर होती हैं। भाव प्रेरणा उत्पन्न होने लगती है। कथा श्रवण स्वाध्याय से विवेक प्रखर होने लगता है, ज्ञान गम्यता प्राप्त होने लगती है। प्रभु लीला चरित्र श्रवण से प्रभु का निरन्तर स्मरण चिन्तन बनने लगता है और धीरे-धीरे चित्त निर्मल होता जाता है। प्रभु लीला चित्त में स्वतः ही स्फूरित होने लगती है। श्री गर्गाचार्य जी ने गर्ग संहिता में श्री राधाकृष्ण लीला का अनुराग पूर्वक सरस और गहन वर्णन किया है। श्री व्यासजी ने पुराणों में पूजा-अनुराग, धर्म-सदाचार, कथा-अनुराग व भक्ति का विभिन्न लीला-कथाओं के माध्यम से विस्तारपूर्वक ज्ञान कराया है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ 18 ॥

विषय विकार से आत्मा मलिन होती है सात्विक सदाचार व प्रभु अनुराग से आत्मा प्रफुल्लित होती है, चित्त निर्मल होता है। निर्मल चित्त में परमात्मा श्री राधा कृष्ण के प्रति आत्मरति होने लगती है। अतः परमात्मा श्री कृष्ण की भक्ति के अविरोधी अर्थात भक्तिभाव बढ़ाने वाले सात्विक विषय व्यवहार करना चाहिये ऐसा शाण्डिल्य का मत है। दीक्षा परम्परा के वैष्णवी सदाचरण, मन, वचन, कर्म की पवित्रता, अपने परम ईष्ट की श्रद्धा गुरूमंत्र का जाप व सात्विक खान-पान शुद्ध व सात्विक जीवन व्यवहार से निर्मलता व निरन्तर प्रभु स्मरण से आत्मरति बनी रहती है। प्रभु अनुरति में विषय प्रसंग अवरोध-उत्पन्न करते हैं। अतः काम, क्रोध, मद, लोभ-मोह आदि विकारों के जनक विषय संग से दूर रहना चाहिये। विषय विरक्ति पूर्वक निरन्तर श्री राधा माधव के चिन्तन में संलग्न रहना अनुरति है। आत्मरतिपरायण भक्त के पास सिद्धियां उपस्थित होती है इन सिद्धियों से प्रभावित होकर लोग लौकिक लाभ लेने के लिए कई

तरह का प्रलोभन लेकर आत्मरति सिद्ध के पास आते हैं। भक्त को इन सिद्धियों के प्रलोभन व स्वार्थी विषय कामियों से दूर रहना चाहिए।

नारदस्तु तदर्पिता खिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ 19॥

श्री हरिअनुराग समन्वित जो प्रभु शरणागत भक्ति है, वही परम श्रेष्ठ है और उत्तरोत्तर श्रेष्ठ लक्षणों से पूर्ण व सर्वाङ्ग हैं। इस परमोच्च भक्ति का व्याख्यान करते हुए नारदजी कहते हैं। परम प्रेमी भक्त वह है जोअपनी समस्त वृत्तियाँ श्री हरि को अर्पित कर दें, जीवन के समस्त कार्य निरन्तर प्रभु का स्मरण रखते हुए करें और उन्हें प्रभु को अर्पित कर दें। आसक्ति और स्पृहा का भाव न रखे। एक क्षण के लिए भी प्रभु का विस्मरण न होने दें, दैन्य भाव से प्रभु का अनुचर बन कर रहे प्रभु प्रेम में ऐसी अनुरति हो जावे कि एक पल के लिए भी परम प्रभु श्री कृष्ण का विस्मरण न सह सकें। और विस्मरण हाते ही परम व्याकुल हो जावे। इस परम प्रेम में उत्तरोत्तर अनुरति होते होते परम-भक्तों को लौकिक कर्म-कर्तव्यों का विस्मरण हो जाता है तब ऐसा भक्त लौकिक कर्मों का संपादन नहीं कर पाता है। उन्हें लौकिक उचित अनुचित का भी बोध नहीं रह पाता। ऐसे भक्त भावुक की धर्मावलम्बियों को सेवा संभाल करनी चाहिए। जिस राष्ट्र में आत्मरत ऐसे भक्त उत्पन्न होते हैं उस राष्ट्र की भूमि पर श्री हरि दिव्य देह धारण करके सदैव विचरते हैं। जो ऐसे प्रभु भावापन्न विरहदग्ध साधु भक्तों की सेवा करता है उसे परमेश्वर की ही सेवा का लाभ मिलता है। भक्त की यही उन्मनी व प्रेमोन्मत्त अवस्था है। इसे ही योगी लोग परम हंस गति कहते हैं। छठे सूत्र में ''यज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्म रामौ भवति'' कहा, वह भी यही भाव भूमि है। परम प्रेम में भक्त कभी नाचने लगता है कभी गाने लगता है, कभी ईश्वर अनुराग बढ़ाने वाली या ईश्वर की सेवा पूजा में आने वाली वस्तुओं को देखकर प्रसन्न होता है, उन्हें छूता है गले लगाता है। देवालय, तीर्थों व साधुओं की रमण स्थली पर लौटने लगता है। कभी किसी में कही सर्वेश्वर श्री कृष्ण को देखकर बतलाने लगता है, सेवा पूजा करने लगता है। कुछ विशिष्ठ भक्त पात्रों में प्रेमोन्मत्त अवस्था पर भी सहजता रहती है। वे समान्य रूप से भक्ति सदाचारमय जीवन व्यवहार करते हुऐ अपने चरित्र से धर्म और भक्ति की प्रेरणा उत्पन्न करते रहते हैं ऐसे विशिष्ठ पराभक्त ही परमोत्तम गुह्य

ज्ञान को सहज ही मानव कल्याण के लिए प्रकट करते हैं। ऐसे सहज परम प्रेमी धीर विचक्षण ज्ञान से संपन्न होते हैं। जिस धरती पर ऐसे परम भक्त विचरण करते हैं, वह धरा परम पवित्र होती है। इनके दर्शन व इनकी वाणी-वचनों का श्रवण मनन करने वाले कृतार्थ हो जाते हैं। इन परा भक्तों के मन, वचन, कर्म परम प्रभु को ही समर्पित होते हैं और एक पल के लिए भी प्रभु से विलग नहीं होते।

अस्त्येवमेवम् ॥ 20 ॥

पूर्वोक्त सूत्र को उदाहरण सहित समझाते हुए नारदजी कहते हैं ठीक इस तरह:

यथा व्रजगोपिकानाम् ॥ 21 ॥

जैसे बृज गोपियो की सूत्र 3 में परम प्रेम रूपा भक्ति बताकर सूत्र 14 तक उसके लक्षण और सूत्र 19 में जो शरणागत विरहा भक्ति के लक्षण बतायें हैं वही परम प्रेमा परा भक्ति है। यह विशेष प्रेमा भक्ति वृजगोपियों में साकार हुई अतः इनका उद्दरण दिया गया। देवर्षि नारदजी व श्री निम्बार्काचार्य ने बृज गोपियों की भक्ति को देखा था। पराश्री राधाजी इन गोपियों की नायिका है। यह गोपियां माधव को सब कुछ अर्पित करते हुए जीवन व्यवहार कर रही है। इनके जीवन का एक ही ध्येय है-श्रीकृष्ण प्रेम। यह गोपियां गृहस्थ के सब काम करते हुए तन-मन-धन से सब कुछ श्री कृष्ण को अर्पित करती हैं। निरन्तर गद्‌गद् वाणी से श्रीगोविन्द का गुणगान करती हुई सर्वत्र श्री कृष्ण को ही देखा करती हैं। गोपियों ने महारास में सम्मिलित होने के लिए अपने समस्त लौकिक धर्म को त्यागकर कृष्ण प्रेमानुराग पूर्वक परम विरहा का जीवन जीया।

इस परम-प्रेमा परा भक्ति के रूपा, पूजा, स्मरणा, दास्या, सख्या, कान्ता, वात्सल्या, आत्मनिवेदना तन्मया व परम विरहा आदि भाव प्रकार सूत्र 82 पर नारदजी ने बताये हैं। श्रीकृष्ण लीला में नंद-यशोदा, देवकी-वसुदेव व वृद्ध गोकुल वासियों का भाव वात्सल्यमय हैं। कृष्ण के बाल सखाओं का सखा भाव है, रमणियों का कान्ता भाव है। श्रीकृष्ण की दिव्य लीला को सुन-सुनकर दूर प्रदेशों में बसने वालो का श्रवणा व गुणमहात्म्या भाव है। विद्वान् ब्राह्मणों व सेवको का पूजा भाव है। निर्मल, निबल, आर्तजनो का दास्य भाव

है। और दीनजन का आत्म निवेदन भाव है। श्रीकृष्ण लीला में सखियों संग श्रीराधा कृष्ण का महारास और निकुंज लीला ही आत्मरति है यही सखियों का तन्मया व परम विरहा भाव है। वृंदावन निकुंज विहार व महारास परम प्रेमी रसिकों का अपने आराध्य के साथ मधुराति मधुर रस विहार है। परमात्मा श्रीराधा-कृष्ण की नित्य निकुंज लीला रसिक जनों को सदैव आनन्द प्रदान करती है। यह उपासक और उपास्य की अभिन्न भावापन्नता है। परम तन्मयासक्त, सखियां श्रीराधा-माधव के संग नित्य निकुंज में सदैव रमण करती रहती है। सभी भाव से भक्ति करने वालों का परम ध्येय श्रीहरि का सानिध्य प्राप्त करना ही है। श्रीगोविन्द कृपा से गोपियों को निकुञ्ज भवन में सखी स्वरूप प्राप्त हुआ। अत: यह गोपियाँ श्री कृष्ण लीला में परम प्रेम भक्ति का सर्वोच्चमान है।

सनातन धर्मानुगत किसी भी उपासना पद्धति व भाव परम्परा से भक्ति की जावे उसके भाव व आराध्य प्राप्ति के भाव लक्षण व लक्ष्य एक ही है। श्री देवर्षि नारदजी द्वारा उपदेशित भक्ति के परम लक्ष्य को अनुभव करके श्री निम्बार्काचार्य जी ने यह उपदेश किया-

अङ्गे तु वामें वृषभानुजांमुदा, विराजमाना मनु रूप सौभगाम्।
सखी सहस्त्रै: परिसेवितां सदा, स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

वृंदावनस्थ नित्य-निकुंज, परमात्मा का नित्यधाम है। इसे ही गौलोक धाम भी कहते हैं। इस आनन्दमय वृन्दावनस्थ नित्य निकुंज में भगवान श्री राधा कृष्ण तन्मयासक्त जीव सखियों के साथ नित्य निरन्तर मधुरातिमधुर नव नवीनतम लीलाविहार करते रहते हैं। इन परम श्री कृष्ण के वामाङ्ग में श्री वृषभानुजा, विराजमान हैं जो भक्तों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली है इन्हीं की कृपा से नित्य निकुंज में आनन्द मनोहर श्रीकृष्ण की सानिध्यमय मधुर भक्ति प्राप्त होती है।

जगदगुरू श्री निम्बार्काचार्य जी इस श्लोक से नित्य निकुंज में श्रीराधा कृष्ण की उपासना का लक्ष्य प्रदान करते हैं और दैन्य भाव युक्त प्रेम विशेष भक्ति के लिए श्रीराधाजी को विशेष रूप से अराध्य बताते हैं। जो भक्ति के आचार्य देवर्षि नारद जी के द्वारा ''बृजगोपियों के समान'' ''परम प्रेमरूपा'' भक्ति के अनुगत है।

तत्रापि न महात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥ 22 ॥

कोई यह शंका करे की गोपी जन को श्रीकृष्ण के सर्वनियन्ता परम प्रभु होने का बोध नहीं था, वे तो श्रीमाधव के रूप सौन्दर्य पर ही मोहित थी। भगवान के दिव्य अवतार का उन्हें ज्ञान नहीं था तो यह अपवाद ही है। गोपियाँ श्रीकृष्ण को सर्वेश्वर श्रीहरि रूप से भी जानती थी वे श्रीकृष्ण की दिव्य-तम लीलाओं से यह अनुभव भी करने लगी थी इसलिए उन्हें श्रीकृष्ण को ''यज्ञात्वा'' परम प्रभु रूप में जानने से विशेष भक्ति की उपलब्धी हुई थी श्रीमद्भागवत के गोपी प्रसंगों से यह बात एकदम स्पष्ट होती है। हाँ, कहीं कभी भगवान लीला करने के लिए माया मोहित करके अपना महात्म्य विस्मृत कराते रहे हैं।

तद्विहीनं जाराणामिव ॥ 23 ॥

यदि गोपियां श्रीकृष्ण को ईश्वर रूप में नहीं जान रही होती और काम प्रवृत्त होकर मोहित होती तो उनका प्रेम जार भाव का होता। एक गोपी दूसरी गोपी के साथ श्रीकृष्ण का विहार देखकर परस्पर डाह करती ओर श्री कृष्ण से आकर्षण न रह पाता। श्रीकृष्ण के संग स्त्री मानसिकता की तरह रहना चाहती उनसे पुत्रैषणा की याचना करती, पुत्र संतान को पालने के लिए धनैषणा की याचना करती, उन्हें घर चलाने के लिए आगाह करती, बडी आयु की गोपी छोटे बालक पर कभी स्त्रीजन्य काम से आकर्षित न होती, एक स्त्री का संग देखकर दूसरी स्त्री प्रेमाग्रह न करती। घर परिवार के सुख से सम्पन्न होकर श्रीकृष्ण के विरह में उनमनी न होती। श्रीमाधव का सभी गोपियां मिलकर सदैव व सामुहिक गुणगान नहीं करती, एक गोपी दूसरी गोपी को श्रीकृष्ण के संग देखकर उसके भाग्य की सराहना न करती। इस तरह यह जार भाव का सा प्रेम गोपी-कृष्ण लीला में कहीं दिखाई नहीं देता। श्रीकृष्ण लीला में गोपीजन का प्रेम माया, मोह रहित और विशुद्ध निर्मल भाव भूमी का है अतः गोपियों का प्रेम निर्मल परम प्रेम था जारों के समान मलावरित प्रेम नहीं था।

जार प्रेम और परम प्रेम परस्पर एक दूसरे के विपरीत हैं। जहाँ जार भाव है वहाँ परम प्रेम नहीं होता, जार भाव में काम वासना होती हैं और परम प्रेमजन्य माधुर्य भाव, काम-वासना की निवृत्ति पर ही प्रकट होता है। जारभाव का अनुराग व्यक्तिगत होता है और परम प्रेम विस्तृत होता है। गोपी-जन माधव का

प्रेम पाकर परस्पर एक दूसरे की सराहना करते हैं। सामुहिक रूप से श्रीकृष्ण का संग पाकर प्रमुदित होते हैं और इन क्षणों को कह सुनकर आनन्दित होते हैं। इन सबसे यह सिद्ध होता है कि श्रीराधा कृष्ण के प्रति गोपीजन का प्रेम, परम प्रेम था वे श्रीकृष्ण को परमेश्वर के रूप में जानती थी। उनका प्रेम परम पुरूष श्रीकृष्ण से निश्छल-निर्मल, माधुर्य भाव का था।

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखित्वम् ॥ 24॥

जिनके हृदय में काम वासना होती है उनको परम् सुख स्वरूप श्री कृष्ण का प्रेम प्राप्त नहीं होता। वासना जनित अनुराग क्षणिक है और शरीर, बल, आयु व भोग के साथ क्षीण होता जाता है अत: यह परम प्रियतम से सतत् व वर्धमान अनुराग व सदा रहने वाले सुख को नहीं प्रदान करता। वासना जनित अनुराग जगत दुखों के आते ही उद्विग्न हो जाता है जबकि पराभाव में सुख-दु:ख का आभास ही नहीं रहता। परम प्रेमी का अनुराग सुख-दु:ख में भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है पराभक्त को सदैव परमप्रभु का स्मरण सुख प्राप्त होता रहता है अत: प्रभु प्रेम में ही अविच्छन: सुख है। जार भाव या वासना भाव में नहीं।

सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥ 25॥

यह पराभाव भक्ति, कर्म-ज्ञान और योग से अधिक तृप्त करने वाली ओर तारने वाली है।

परमेश्वर प्राप्ति व मुक्ति की ये चार उपासना पद्धति है। शास्त्रों में इन चारों ही उपक्रमों का यथा स्थान उल्लेख हुआ है ईश्वर विश्वास व श्रद्धा अनुराग रूप में इन चारों में ही भक्ति भाव मूलरूप से निहित है। किन्तु साधना पद्धति के कारण इनकी उपासना शरणी भिन्न-भिन्न स्वरूप में विद्यमान है। भक्ति में भी कर्म ज्ञान व योग का समाहार है किन्तु ये मुख्यक्रिया शरणी में नहीं गिने जाते। भक्ति में मुख्यत: श्रीहरि के प्रति आस्था, विश्वास, श्रद्धा तथा शरणागति के साथ प्रभु के नाम लीला स्वरूप ध्यान, गुण व महात्म्य का स्मरण, श्रवण-कीर्तन अनुराग पूर्वक किया जाता है। ईष्ट विग्रह की सेवा-पूजा, लीला-उत्सव आदि आयोजित किये जाते हैं। सत्संग, स्वाध्याय व प्रभु का ध्यान स्मरण आदि उपक्रम भक्तजन करते हैं। भक्ति में नियमों की कठोरता नहीं है। सात्विकता, शुचिता और निर्मल भाव से अपने ईष्ट प्रभु के संग भावनात्मक सम्बन्ध

स्थापित करके भक्ति उपासना की प्रवृत्ति सम्पन्न होती है। पराभक्त परमेश्वर की भक्ति के अनुकूल ही आचरण करता है। सात्विक, पवित्र, धर्मानुकूल, कर्तव्य कर्म करता हुआ अपने सभी कर्म प्रभु को अर्पित कर देता है। पराभक्त अपनी मनमर्जी से कुछ नहीं करता, वह तो अपने समस्त कर्म अपने ईष्ट के अनुकूल रहता हुआ ही करता है इस तरह पराभक्त सदैव ईश्वर शरणागति भाव में संलग्न रहता है। सदैव परम प्रभु श्रीराधा-माधव का स्मरण रखता हुआ उनके सानिध्य में बना रहता है। प्रियतम श्रीराधा माधव की यथा समय विशेष सेवा स्मरण कीर्तन करता हुआ आनन्दित होता है सब मनोरथों से तृप्त रहता है और सहज ही इस जगत से तर जाता है। इस तरह यह परमभक्ति मानवमात्र के लिए सहज, सरल और तृप्त करने वाली तथा कर्म, ज्ञान, योग की अपेक्षा अधिक अनुकूल व तारने वाली है।

उपासना कर्म, धर्म के पालन, वर्णाश्रम के कर्तव्य व कर्मकाण्ड में वर्णित यज्ञादि अनुष्ठानों के सम्पादन को कर्म कहते हैं। भक्ति में निष्काम कर्म वर्णाश्रम के कर्तव्य पालन तथा प्रभु प्रीति वर्धक भाव अनुष्ठान को कर्म क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है इसी भाव वर्धक क्रिया से भक्ति प्रवृत्त होती है।

फलरूपत्वात् ॥ 26 ॥

किसी को यह भ्रम हो कि कर्म, ज्ञान व योग से सिद्धी आदि फल प्राप्त होते हैं फिर भक्ति से क्या फल होगा? इसका उत्तर देते हुए नारदजी कहते हैं–भक्ति तो स्वयं ही फल रूपा है। जगत्गुरू श्री निम्बार्काचार्य इसका स्पष्ट उल्लेख करते हैं, ''कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायत्'' यह परम शरणागत दैन्य भाव से युक्त भक्ति प्रभु का कृपा फल ही है। भक्ति के साथ भक्त को प्रभु कृपा का सर्वाङ्ग सम्बल रूप फल प्राप्त हो जाता है अतः यह भक्ति स्वयं फल रूपा है। इस भगवत् प्रसाद रूप भक्ति के प्राप्त होने से ''अनादिमाया परियुक्त रूपं त्वेनं विदुर्वें भगवत् प्रसादात्'' अनादि माया में बद्धजीव माया मुक्त होकर श्रीहरि का पार्षद हो जाता है।

किसी भी जाति, वर्ण, देश, काल आश्रम व अवस्था में गुरू सम्बन्ध लेकर भगवत् भक्ति की जा सकती है। अनन्य भाव होने पर भगवत कृपा रूप विशुद्ध भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति कृपा फल प्राप्त भक्त का योगक्षेम भगवान स्वयं वहन

करते हैं।

ईश्वरस्याप्यभिमान द्वेषित्वाद् दैन्य प्रियत्वाच्च ॥ 27 ॥

कर्म, ज्ञान, योग व जडवादी-माया मार्ग वालों में जो कृतत्व अहं की मात्रा है उस अभिमान अहंकार के रहते परमेश्वर की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि अंहकार का ईश्वर से विरोध है। अभिमान ईश्वर से दूर रखने वाला है अंहकार की भावभूमि पर ईश्वर अनुराग नहीं हो सकता अत: अहंकार के रहते ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। जो मनुष्य अहंकार को त्यागकर निर्मल मधुर दैन्य भाव भक्ति करता है वह ईश्वर को पा लेता है। विशिष्ट उपासना पद्धतियों में जो भक्ति के लक्षण है उन्हें बताने के लिए कहते हैं-ईश्वर को दैन्य भाव प्रिय है। प्रभु समर्पित शरणागत भाव ही दैन्य भाव है जहाँ हृदय की निर्मलता, निराभिमानता और प्रभु के प्रति अत्यन्त अनुराग होता है। परम प्रभु के प्रति प्रेमविह्वलता ही परम श्रेष्ठ दैन्य भाव है, जो प्रभु को अत्यन्त प्रिय हैं। इस तरह निराभिमानी निर्मल-हृदय, प्रभु अनुरागी ही परम-प्रभु श्रीराधा-माधव का प्रिय होता है।

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ 28 ॥

भक्ति का साधन ज्ञान है ऐसा कोई-कोई मानते हैं। ''भक्ति का साधन ज्ञान ही है।'' ऐसी मान्यता वाले विद्या-अभिमानी हैं। जो विद्याभिमानी तर्क-विर्तक से कलह प्रवृत है और परम प्रभु के प्रति अनुराग रहित हैं। उन विद्याभिमानियों के मस्तिष्क में परम प्रभु की प्रीति नहीं ठहर सकती। यहाँ शास्त्र ज्ञान की अवहेलना नहीं है वरन् शास्त्र ज्ञान के कलह अभिमान का निराकरण है। जो शास्त्र का ज्ञान नहीं रखता वह भी भक्ति करता हुआ देखा जाता है कई शास्त्र अनभिज्ञ भी भक्ति की श्रेष्ठता को प्राप्त हुए हैं, यह बात भक्त चरित्रों से हमें ज्ञात होती है। श्रीराधागोपाल तो शिक्षित अशिक्षित जाति वर्ण का भेद करते ही नहीं। जहां जिसमें निर्मल प्रेमानुराग व सात्विक सदाचार होता है परम प्रभु वहीं अपनी कृपा का दान कर देते हैं।

शास्त्र और शास्त्रज्ञ विद्वान विप्र हमारे लिए पूजनीय हैं वे भगवान के मुख रूप हैं हमें समय-समय पर यथार्थ का बोध कराते हैं। जिसके हृदय में भक्ति का बीज है उसके भाव को परवान चढ़ाते हैं। संत-साधु व शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों का सतसंग वार्तालाप भगवत कृपा से ही मिलता है। कई बार भगवत् कथा कहने

वाले शास्त्रज्ञ को कुछ विशेष भाव आनन्द प्रतीत नहीं होता और श्रोता भावुक भक्त को भगवान आनन्दित कर देते हैं। अत: जिसे भक्ति कृपा फल प्राप्त है उसे ही भक्ति मिलेगी ऊंची उपाधियों व शास्त्र प्रवचन प्रवीण हो जाने से भक्ति नहीं मिलती। वेदान्त में कहा है ''परमेश्वर न प्रवचन से न बहुत पढ़ने से न बहुत सुनने से ही मिलते हैं वरन् जो गोविन्द प्रभु का श्रद्धा स्मरण ध्यान और चिन्तन करता है उसे ही मिलते हैं।''

शास्त्र का श्रवण व चिन्तन कराने वाले प्रेरक विद्वान व शास्त्र हमारे परम आदरणीय हैं यह तो उन विद्वान अहंवादियों को प्रेरणा देने के लिए कहा गया है जो परमार्थ प्राप्ति के लिए भक्ति उपासना का अवलम्बन नहीं करते।

अन्योन्या श्रयत्वमित्यन्ये ॥ 29 ॥

कुछ का यह मानना है भक्ति व ज्ञान एक दूसरे पर आश्रित है तो यह मान्यता सब जगह उपयुक्त नहीं है। शास्त्र अध्यता, शास्त्र-ज्ञान का विशद ज्ञाता हो सकता हे, धर्मआचरण के सम्बन्ध में उचित-अनुचित का शास्त्रानुकूल निर्णय कर सकता है। धर्म दर्शन व कर्मानुष्ठान का शास्त्र प्रमाण से व्याख्यान कर सकता है पर यदि मन में प्रभु अनुराग नहीं है तो परमप्रियतम श्री राधाकृष्ण को नहीं पा सकता जबकि भक्त प्रभु अनुराग से शास्त्र का ज्ञाता न होने पर भी अपने ईष्ट की कृपा प्राप्त कर सकता है। भक्ति के लिए एकमात्र गुरू उपदेश ही पर्याप्त है। शास्त्र श्रवण-मनन से संस्कारमार्जन व भक्ति भाव में प्रखरता आती है अत: शास्त्र और शास्त्रीय ज्ञान सत्संग रूप में भक्त के लिए समादरणीय है। भक्ति तो प्रभु के अनन्य प्रेम भाव पर ही अवलम्बित है और श्रद्धालु को शास्त्रज्ञान के बिना भी हो सकती है किन्तु शास्त्र का ज्ञाता भक्ति भाव के बिना परमार्थ लक्ष्य को नहीं पा सकता।

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमारा: ॥ 30 ॥

नारदजी ने 26 वें सूत्र में कहा भक्ति फल रूपा है इसके बाद दूसरे-दूसरे प्रकरणों से भक्ति का सर्वथा विशुद्ध स्वरूप बता दिया। अब यहाँ अपने गुरू श्रीसनत कुमारजी का इस सम्बन्ध में उपदेश प्रमाण प्रस्तुत करते है श्रीसनत कुमारजी ने भी हमें भक्ति को स्वयं फलरूपा ही बताया है।

अनन्य भक्ति से सब फल सम्भव हो जाते हैं परमतृप्ति ओर परमानन्द प्राप्त

हो जाता है किन्तु अन्य अवलम्बन से भक्ति के बिना परमतृप्ति और परमार्थ प्राप्ति नहीं होती। जैसे-

राजगृह भोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ 31 ॥

जैसे राजगृह को देखेने से राजा का परितोष या राज्य सम्पदा का लाभ प्राप्त नहीं होता जैसे भोजन को देखने से क्षुधा शान्त नहीं होती, वैसे ही बिना प्रभु कृपा के परम तृप्ति की प्राप्ति नहीं होती, वैसे ही बिना हरि अनुग्रह परमानन्द नहीं होता, परमसुख नहीं होता।

न तेन राज परितोषः क्षुधा शान्तिर्वा ॥ 32 ॥

कर्म, ज्ञान व योग फल तो प्रदान करने वाले हैं किन्तु प्रभु कृपा और परम तृप्ति प्रदान करने वाले नहीं है। धर्माचरण कर्म से पुण्यफल प्राप्त होता है निस्काम कर्म से निर्मलता प्राप्त होती है। शास्त्र ज्ञान व शास्त्र सम्पादित कर्म से परा-अपरा प्रभु प्रभाव का बोध हो जाता है योगाभ्यास से निरोग काया व शान्त चित्तवृत्ति हो जाती है इस से परम प्रभु के राजगृह व भोजनादि को देखने से समान फल तो प्राप्त हो जाता है किन्तु भक्ति के बिना, राजप्रसाद में प्रतिष्ठित नवलकिशोर, किशोरी की कृपा रूप प्रसन्नता नहीं मिल पाती जैसे राज प्रसाद व भोजनादि वस्तुओं को देखने से राज कृपा और क्षुदा शान्त नहीं होती। अर्थात परम प्रभु कृपा प्राप्ति रूप तृप्ति ओर अनन्य शान्ति नहीं मिलती। परम तृप्ति और परम शान्ति तो प्रभु की अनन्य भाव भक्ति से ही प्राप्त होगी।

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ 33 ॥

अतः मनुष्य को चारों ही मार्गों से प्रभु की परम भक्ति को ही ग्रहण करना चाहिये। कर्म मार्ग में भी भक्ति का अवलम्बन हैं ज्ञान व योग में भी भक्ति का अवलम्बन हैं। सकाम उपासना भक्ति का शुद्ध अङ्ग नहीं हैं। शक्ति व वैभव के लिए किये जाने वाले साधना उपक्रम माया अहं से प्रवृत्त है अतः वह भक्ति विरोधी है। निर्मल निस्काम हृदय से प्रभु अनुरागमय भाव-प्रवृत्ति परमप्रेम लक्षणा शुद्ध भक्ति है। शुद्धभक्ति भाव से सभी उपासना शरणी सहज रूप से सफल हो जाती है और परम तृप्ति तथा परमानन्द को देने वाली होती है अतः मुमुक्षुओं को विशुद्ध भक्ति का ही अवलम्बन करना चाहिये।

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ 34 ॥

वैष्णवाचार्यों ने इस भक्ति के साधन गाये हैं। आचार्यों ने क्या-क्या उपक्रम माने हैं देवर्षि नारद जी भक्ति के इन विभिन्न उपक्रमों का उल्लेख कर रहे हैं।

तन्तु विषयत्यागात सङ्गत्यागाच्च ॥ 35 ॥

जीव माया-विषय से आसक्त होकर, माया परियुक्त हुआ, माया मय जगत में बद्ध होता है। जगद्गुरू श्री निम्बार्काचार्य जी कहते हैं- "अनादि मायापरियुक्त रूपं" शुक्ल, कृष्ण भेदवाले इस त्रिगुणात्मक माया प्रभाव से बद्ध जीव जब तक आसक्ति हीन नहीं होता तब तक प्रभु अनुरति को प्राप्त नहीं कर सकता। मानसिक विषयासक्ति से विषयावृत्ति उत्पन्न होती है अत: मानसिक रूप से विषय आसक्ति व विषय संग का त्याग भक्ति का मुख्य साधन है। विषय संग त्यागी को गुरू कृपा पूर्वक सहज ही भक्ति प्राप्त हो जाती है।

यहाँ यह समझने की बात है कि कोई विषय त्याग के लिए खाना-पीना आदि या कर्तव्य कर्म का त्याग कर दे, कर्म कर्तव्य में आने वाले झंझावातों से जी चुराकर या कर्तव्य की असफलता से दु:खी होकर उन से दूर भाग जावे, कर्तव्यों का त्याग कर दे तो यह वस्तुत: त्याग नहीं है। जो मानसिक विषय वृत्ति से निवृत्त हुआ, वही सच्चा विषय संग त्यागी है। विषय-त्याग तो कर्तव्य कर्म को करते हुए भी सम्भव है तथा विषयावृत्ति तो निर्जन में रहने वाले विषय आसक्त को भी हो सकती है! अत: विषय रागात्मक कर्म, विषय पदार्थ प्रयोग विषय प्रसंग का त्याग व मानसिक विषय वृत्ति कि त्याग पूर्वक भक्ति के लिए सुसंग, सात्विक आचार विचार व स्वाध्याय यथेष्ठ है।

अव्यावृत भजनात् ॥ 36 ॥

जो व्यावृत न करें, लिप्त न करें, आवृत्त न करें निरावृत्त करें, वह उपक्रम अव्यावृत हैं। पूर्व सूत्र की व्याख्या में कह आये है कि जीव विषयासक्ति से माया बन्धन में पड़ता है। धन, पुत्र, स्त्री, शासन, यश, मान-सम्मान, सुख-सुविधा आदि से विषय कामनायें होती है। इनसे प्रेरित होकर मनुष्य कई कर्म प्रवृत्तियों का आयोजन करता है। इन कर्म फल आसक्तियों से मोहित हुआ जीव, काम-क्रोध-ईर्ष्यादि विकारों से सम्पन्न हो जाता है।

उपरोक्त मोहआवृत्तियों के कारण वर्णवृत्ति में बद्ध हो जाता हैं जन्म-जन्मान्तर की इन विषयासक्तियों से मोहित हुआ, ऐषणागत क्षणिक सुखों की

आशा में, दु:ख क्लेश भोगता हुआ शरीर छोड़ देता है और अपने स्मृति संस्कार के अनुसार पुन: शरीर धारण कर लेता है।

पुण्य प्रारब्धत: जीव मनुष्य योनि में जीवन पाता है। यह मानव जीवन ही दु:ख-क्लेशमय माया प्रवाह से निवृत्त होने का सुयोग्य साधन है। प्रभु शरणागत हो, सात्विक सदाचार पूर्ण जीवन निर्वाह करते हुए, निरन्तर प्रभु श्री राधा सर्वेश्वर के भजन करने से ही निरावृत हुआ जा सकता है। निरन्तर अखण्ड भगवद् भजन साधन से ही परम कृपा रूप भक्ति की प्राप्ति होती है और भक्ति से ही प्रभु कृपा पूर्वक माया से निवृत्ति होती है। श्री निम्बार्काचार्य श्री हरि की निरन्तर भजन उपासना को ही माया निवृत्ति का हेतु मानते हैं और निरन्तर वर्धमान भावानुराग को ही भक्ति कहते हैं।

लोकेऽपि भगवतगुण श्रवण कीर्तनात् ॥ 37 ॥

वैष्णव सम्प्रदाय में भगवद् लीला श्रवण, भगवद् नाम स्मरण व नाम कीर्तन की सामुहिक (समाज) गान परम्परा प्रचलित हैं। लोक मान्यता के अनुसार भी भगवान की महिमा गान, भगवद् लीला कथा-श्रवण, लीलानुकरण, भगवद् पद गान व नाम कीर्तन करने को भक्ति मानते हैं। श्रीभागवत्, श्री रामयण आदि कथा पुराणों के व्याख्यान प्रवचन आदि सामुहिक रूप से उत्सव पूर्वक होते हैं, नाम कीर्तन व पद गान की विशद परम्परा है इन सामुहिक लोक परम्पराओं से श्रीहरि के प्रति भक्ति भावना का स्फूरण होता है। भगवद् कथा वाचन व श्रवण, नाम, जप, कीर्तन व पदगान रूपी भक्ति के परम्परागत उपक्रम से अखिल विश्व का कल्याण होता है।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशद्वा ॥ 38 ॥

भक्ति भावना का स्फुरण अनायास महापुरूषों की कृपा से, श्रीमद् गुरू की कृपा से, साधु वैष्णव संग से व भगवान की महत्ति कृपा पूर्वक होता है।

श्रीमद्गुरू से वैष्णवी दीक्षा लेने पर उत्कृष्टतर भक्ति का सञ्चार होता है। साधु वैष्णवों के संग, शास्त्र-श्रवण-सतसंग व निरन्तर श्रीहरि-स्मरण ध्यान से भक्ति के रहस्य उजागर होते हैं। कई निर्मल हृदय संस्कारी भक्तों को भगवान की अनन्य कृपा से ही भक्ति का सञ्चार हो जाता है। जो निर्मल हृदय है और प्रभु श्री राधामाधव में अत्यधिक अनुराग रखते हैं, उन्हें प्रभु स्वयं अत्यन्तावस्था

पर अपनी कृपामय भक्ति स्वयं प्रदान करते हैं। श्रीमद्गुरू व साधु-वैष्णव जन की संग रूप कृपा श्रीहरि की अनन्य कृपा से ही प्राप्त होती है भगवान किसी भी रूप में किसी भी विधी से भावानुरागी पर कृपा कर देते हैं। भगवान की महत्ति कृपा जन्म-जन्मान्तर के प्रभु भजन परिणामत: अद्यावधि अखण्ड श्रद्धा विश्वास से ही सुलभ होती है।

महतत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योंऽमोघश्च ॥ 39॥

जिन पर भगवान की भक्ति रूप कृपा है जो मन-वचन-कर्म से प्रभु श्री राधा-माधव को समर्पित हैं जो नित्य-निरन्तर भगवान के गुण-लीला-कीर्तन में संलग्र व भगवद् भाव में उन्मत्त है वे महात्मा परमहंस हैं। ऐसे महात्मा का जीवन, कृति-वृत्ति व वाणी सर्वकल्याणकारी और अमोध हैं। ऐसे महात्मा का संग दुर्लभ है और अगम्य है। ऐसे साधु-महात्मा परम भक्त को पहचान पाना व इनकी कृपा होना इन्हीं की कृपादृष्टि पर निर्भर है। जिन्हें अपने सुकृत से परमपरायण दुर्लभ व अगम्य महात्मा के दर्शन हो गये। जिन्होने इनकी पहचान व इनकी कृपा पा ली वह कृतार्थ हो गये। इन महत्तम महात्माओं के संग व अमोध कृपा से मनुष्य का इहलोक व पारलौकिक परमार्थ सिद्ध हो जाता है।

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ 40॥

परमहंस स्वरूप, परमभाव में सदा उन्मन्त रहते हुए सर्वत्र विचरण करने वालें इन अमर महात्मा व परम ऋषियों का अगम्य व अमोध कृपा पूर्ण दर्शन-संग परमेश्वर की कृपा से ही मिलता है। निर्मल चित्त परम परायण आस्तिक भावुक भक्त पर ही प्रभु कृपा होती है और प्रभु कृपा परिणामत: अमर महात्माओं का कृपा सानिध्य प्राप्त होता है।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ 41॥

प्रभु और भक्त में भावनागत भेद नहीं है। दोनों ही परस्पर परम प्रीति में आबद्ध होते हैं। भक्त के हृदय में भगवान और भगवान के हृदय में भक्त बसते हैं भक्त भगवान मय व भगवान भक्तमय होते हैं। दोनों परस्पर अभिन्न भाव संलिप्त होने से दोनों अभिन्न हैं जहां परम निष्ठ भक्त है वहाँ भगवान है। अत: परम भावापन्न भक्त महापुरूष के दर्शन सेवा व सतसंग भगवद् परिपूर्ण ही है।

तदेव साध्यताम् तदेव साध्यताम् ॥ 42॥

पराभाव भक्ति में लीन भक्त महात्मा का सेवा संग सदैव साधो। परम पावन भक्त, वैष्णवजन के हृदय में सर्वेश्वर श्री राधा-माधव सदैव रमण करते हैं। भक्त काम-क्रोध-मद-लोभ आदि विकारों से रहित होते हैं। ऐसे परमानुरागी भक्त जीवकोपार्जनीय श्रम नहीं कर सकते क्योंकि वे मन-वचन-कर्म से पराभाव में उन्मत है। ऐसे दुर्लभ और अगम्य साधुओं का प्रभु कृपा से दर्शन होता है। अत: पराभाव में उन्मत्त भक्त, महात्मा वैष्णवजन की सेवा आराधना करो इनकी सेवा आराधन से अमोध फल प्राप्त होगा इनकी कृपा से इहलोक में जीवन निर्वाह सुगम हो जावेगा पाप क्षीण हो जायेंगे, सुमति आयेगी और पराभक्ति की प्राप्ति होगी।

दु:सङ्गसर्वथैव त्याज्यः ॥ 43 ॥

दु:सङ्ग से प्राकृत प्रभाव उत्पन्न होते हैं, सुसंङ्ग से परा प्रभाव उत्पन्न होते हैं। पूर्व सूत्रों में महात्माओं के सुसंङ्ग का वर्णन किया जा चुका है। यहां दु:सङ्ग को सर्वथा त्यागने का निर्देश देवर्षि नारद जी दे रहे हैं। पहले सुसंङ्ग को सदैव साधने की बात कही गई है। प्राकृत प्रभाव से ही आसक्ति होती है व आसक्ति के अनुरूप मनसचित्त पर विषयावृत्ति का निर्माण होता है यह विषयवृत्ति ही चित्त का आवरण है। इस विषयगत चित्त वृत्ति से प्रभावित बुद्धि द्वारा इन्द्रियां विषयगत कर्म में प्रवृत्त होती है इस तरह यह विषयगत कर्म प्रवृत्तियों की आवृत्ति निरन्तर चलती रहती है और अपना आवरण बनाती रहती है जिससे जीव कर्मफल प्रवृत्तियों से सुख-दु:ख के आवागमन चक्र में भ्रमण करता रहता है।

कर्मावरण का उच्छेद करने के लिए निष्काम कर्म, ईश्वर श्रद्धा, महापुरूषों का सुसंग, सद्चिन्तन और भगवद् भक्ति करनी चाहिये। सुसंग का अभिप्राय सात्विक आचार-विचार, सात्विक आहार-विहार, सात्विक, सज्जन व विद्वान पुरूषों का संग, सद्ग्रन्थ श्रवण मनन, ईश्वर आस्था और सद्चिन्तन आदि है। जिन प्रसंग, व्यवहार, बर्ताव से सात्विक चिन्तन-मनन व्यवहार प्रशस्त होता हो वे सब सुसंग है और जिनके बर्ताव-व्यवहार सम्पर्क से असात्विक प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हों वे सब दु:संङ्ग है। ईर्ष्या, द्वेश और विषय कामुकता से ग्रस्त दुर्जन पुरूष और ऐसे ही दूसरे विषय व्यवहार दु:सङ्ग है। दु:संङ्ग से मनोविकार

उत्पन्न होते हैं। और यह मनोविकार परमार्थ पथ में बाधा उत्पन्न करते हैं अतः सभी प्रकार के दुःसंङ्ग को सर्वथा त्याग देना चाहिये।

काम क्रोध मोह स्मृति भ्रंश बुद्धिनाश सर्वनाश कारणत्वात् ॥ 44 ॥

पूर्व सूत्र में दुसङ्ग को त्यागने की बात कही। दुःसङ्ग से होने वाले दुस्प्रभाव को यहाँ स्पष्ट करते हैं। दुसंङ्ग से मन में विषयभोग का लालच, आसक्ति, कामवासना और क्रोध अहंकार तथा मोह उत्पन्न होता है। मोह से धर्म स्मृति भ्रंश धर्म स्मृति गुरू से सद्बुद्धि द्वारा व बुद्धिह्रास से परमार्थ हानि रूप सर्वनाश हो जाता है।

दुःसंङ्ग से यह विकार कैसे उत्पन्न होते हैं? जैसे काम प्रसंग को सुनने-पढ़ने-देखने और मनन करने पर, स्त्री-पुरूष एकान्त संग व वासना प्रेरित वार्तालाप, हाव भाव और पहनावा पहनने देखने से, काम प्रसंग के नाटक कथा आदि देखने से, भोग की अष्ट मैथुन जनित काम वासना उत्पन्न होती है। भोग-विलास की सुख-वैभव पूर्ण वस्तु व भोग विलासी व्यक्ति के संसर्ग से वैभव विलास की इच्छा होती है। राज शासन की आसक्ति से दास भूमि व साम्राज्य की कामना होती है। स्वादु भोज्य पदार्थों के संसर्ग से जिह्वा की लोलुपता उत्पन्न होती है। मांस मदिरा आदि तामसिक पदार्थों के सेवन से सभी तरह के विकार उत्पन्न होते हैं। राजसिक तामसिक व्यवहार-आचरण वाले दुर्जनों के संग में सभी तरह की अपराधिक प्रवृत्तियाँ प्रेरित होती है, सात्विक आचार-व्यवहार वाले सज्जनों के संग से सात्विक प्रेरणायें उत्पन्न होती हैं।

विषय संसर्ग से काम उत्पन्न होता है, काम से मोह उत्पन्न होता है, मोह जनित आसक्ति से क्लेश उत्पन्न होता है व मोह जनित कर्मों की प्रवृति का अनुकूल फल प्राप्त न होने से मनोव्यथा और दुःख उत्पन्न होता है। मोहासक्ति से ही अहंकार और मोह जनित कर्मों में व्यवधान से क्रोध उत्पन्न होता है। मोह जनित अंहकार में दूसरे प्राणियों के प्रति ईर्ष्या-द्रोह व कुत्सित विचार उत्पन्न होते हैं। सांसारिक सुख-दुःख और क्रोध अहंकारादि मोहासक्त मनोवृत्ति से सात्विक धर्म और ईश्वर स्मृति का नाश होता है। विषयगत स्मृतियां चित्त को मोह आवरित कर लेती हैं। मोह के कारण सात्विक धर्म स्मृति के नष्ट होने से व्यक्ति भौतिक सामर्थ्य के अनुसार अपने को श्रेष्ठ, बली, बुद्धिमान, धनिक,

सम्पन्न, स्वामी, दास, विपन्न, रोगी, दुःखी व शासक समझने लगता है। अहं भाव के कारण व्यक्ति अपने सामर्थ्य का सात्विक धर्मानुसार दायित्व निर्वहन नहीं कर पाता। दुसङ्ग जनित धर्म स्मृति के नष्ट होने से व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत धन, पुत्र, स्त्री आदि एषणाओं की ही पूर्ति का स्मरण रहता है। ऐसे में धर्म स्मृति भ्रंश से व्यक्ति को परम प्रभु का स्मरण व अविचलित आस्था नहीं रह पाती। इस तरह दुःसङ्ग से काम-क्रोध-मद-मोह-लोभ से धर्म स्मृति का भ्रंश हो जाता है और धर्म स्मृति के भ्रंश से परमेश्वर परायण बुद्धि का नाश हो जाता है। धर्म व परमेश्वर परायण बुद्धिनाश में सर्वनाश होता है धर्म स्मृति के नाश से धर्माचरण का नाश होता है और परमेश्वर श्रद्धा स्मृति के नाश से परमार्थ का नाश होता है। इस तरह जगत की सामाजिक धर्म व्यवस्था और परमगति परमार्थ दोनों ही बिगड़ जाते हैं अत: धर्म-स्मृति के नाश से इहलौकिक व पारलौकिक दोनों ही सद्लक्ष्य का नाश हो जाता है। धर्महीन का तो धर्म भी गया और परम भी गया। इसलिए यहां कहा गया है, बुद्धिनाश से सर्वनाश हो जाता है। अत: मनुष्य को इहलौकिक पारलौकिक अभ्युदय के लिए दुःसङ्ग व्यवहार को त्याग देना चाहिए।

तरङ्गायिता अपीमेसङ्गात्समुद्रायन्ति ॥ 45 ॥

जिस माया विषय को कहते आ रहे हैं उसी को और स्पष्ट कर रहे हैं। मोहासक्त मनुष्य जब विषयों का संसर्ग पाते हैं तो उनके मन में वासनाओं की तरंग इस तरह उठती है जैसे विशाल समुद्र में एक पर एक लगातार विशाल लहरें उठती रहती है। इस तरह यह वासना तरंग इन्द्रियों से विषय भोग की हवा पाकर मन रूपी समुद्र को लहराती है मन से बुद्धि तक बुद्धि से प्राणों को और प्राणों से अहंकार को जगाति हैं और प्राणाहंकार इन्द्रियों को विषय कर्म में प्रवृत्त कर देता है। लहराती हुई यह विषय वासना चित्त को आसक्ति में बांध देती है। इस तरह विषय वासनाओं से अन्त:करण उद्वेलित और अशान्त रहता है और इस अशान्त अन्त:करण में ईश्वर श्रद्धा सम्पन्न भक्तिभाव नहीं बन पाता और मनुष्य जीवन माया समुद्र में डूब जाता है।

कस्तरति कस्तरति माया ? यः सङ्गास्त्यजति
यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति ॥ 46 ॥

माया से कौन व कैसे तरता है? प्रश्न को गौर से ग्रहण करने के लिए दो बार दोहराया गया है। जो संदर्भ पूर्व सूत्रों में कहा जा चुका है उसी को बुद्धि पर और गहरे रूप से स्थापित करने के लिए पुनः याद दिलाया जा रहा है। जो विषय संग व विषयासक्ति और दुर्जनों का संग त्याग करता है जो ममता रहित होकर भक्त महानुभाव की सेवा ममता आसक्ति रहित होकर करता है वह संसार से तरता है। वह तथा ''तदर्पिताखिला चारिता'' जो जीवन के सारे कर्म व्यवहार को निष्काम धर्म अवलम्बन से निभाता हुआ ईश्वर श्रद्धा और भजन पूर्वक प्रभु शरणागत हो गया है ''तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति'' सर्वेश्वर श्री राधा-माधव का विस्मरण होते ही व्याकुल हो जाता है ऐसा भाव-भक्ति में तल्लीन रहने वाला निर्मलहृदय भावुक-भक्त इस मायामय संसार से तरने वाला है। यह उक्त परमेश्वर अनुराग परम कृपा प्राप्त साधु महात्मा ऋषियों के संग से, इनकी कृपा से, सेवा स्वाध्याय द्वारा प्राप्त होता है। अतः ''तदेव साध्यताम्'' जो ऐसे साधु महापुरूषों का संग व सेवा करता है। ममता रहित होकर पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है वह श्रीमद्गुरू कृपा-पात्र अविचल परा भक्ति में संलग्न इस संसार से तर जाता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबन्ध मुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति योगक्षेमं त्यजति ॥ 47 ॥

जो लोकबन्ध के मूल कारण को बीज सहित निर्मूल कर देता है। वह त्रिगुण प्रकृति की विषय धारणा से रहित हो जाता है। जगत अवलम्बित फलाकांक्षा से रहित होकर सांसारिक योगक्षेम की चिन्ता को त्याग देता है वह पूर्व कथित ''निर्ममो'' ममता रहित हो, जगत जंगल के जंजाल से निवृत्त हो जाता है, विरक्त दीक्षा भी इसी भाव पर स्थापित होती है विरक्ति पूर्वक अनन्य भाव से भावित हो जो प्रभु की भक्ति करता है उसकी एक भाव निष्ठा ही एकान्तिक स्थान है। विरक्त जनों के लिए यहाँ एकान्त स्थान का सेवन भी निर्दिष्ट है। यहाँ ''विविक्तस्थानं'' विरक्तिपूर्ण चित्त धरातल को कहा गया है। परम उपासक की यह श्रेष्ठ चित्त भूमि है। इस परम प्रभु निष्ठ चित्त भूमि से जो अपने इष्ट की सेवा भक्ति करता है वह इस संसार बन्धन से तर जाता है। गुरू दीक्षा से प्रारम्भ होकर भक्ति की यह श्रेष्ठ अवस्था होती है। इस एक निष्ठ

निर्मल चित्त अवस्था में अपने इष्ट राधा-माधव का निरन्तर स्मरण ध्यान आवश्यक है। जो निर्मल चित्त होने पर भी परम प्रभु श्रीराधामाधव का ध्यान व सेवा स्मरण नहीं करता वह इस माया से नहीं तरता उसे श्रीहरि की स्मृति न होने से परम प्रेमानन्द नहीं प्राप्त होता इस भाव भूमि पर पारंगत गुरू की महति आवश्यकता होती है। क्योंकि निर्मल चित्त भूमि में दिव्याति दिव्य वैभवों का जाल, साधक को उलझन में डाल सकता है। आश्चर्य जनक वैभव बोध होने से उचित मार्ग का अवलम्बन ग्रहण करने में दुरूहता रहती है। अगम्य और दुराराध्य परम प्रभु की परमानन्द प्राप्ति के लिए पूर्व निर्देशानुसार धैर्य, संयम व शरणागति और वैभव सिद्धियों से विरक्ति की आवश्यकता है।

यह शरीर प्रारब्ध से उत्पन्न हुआ है, अतः यह प्रारब्ध ही जन्म का हेतु है। कर्म-फलासक्ति ही जीव के बन्ध का मूल है। यह क्रियमाण व संचित चित्त वृत्तियां ही जीव के भावी बन्ध का बीज है। जन्म के साथ प्रारब्ध फलीभूत हो चुका है। यह जन्म रूप वर्ण वृत्तिकृत ऋण बन्धों का परिणाम है। इन ऋण बन्धों से मुक्त होने के लिए जो जन्म के साथ कर्तव्य प्राप्त हुए हैं उनका निष्काम और दायित्व पूर्वक निर्वाह करने व निरन्तर श्रद्धा पूर्वक ईश्वर स्मरण भजन करने से मायाबन्ध के कर्म बीजों का नाश होगा। जिसकी निष्काम धर्म आचरण और परम प्रभु में श्रद्धा भक्ति हो जाती वह भक्त साधना करते-करते शनैः शनैः त्रिगुण प्रकृति के प्रभाव से मुक्त हो जाता है और निर्मल हृदय प्रभु भक्त को सांसारिक योग क्षेम की चिन्ता नहीं सताती ऐसे भक्त की भगवान स्वयं सम्भाल करते हैं।

यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि सन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥ 48 ॥

निष्काम कर्म से मलावरण क्षीण हो जाने पर भावुक भक्त परम प्रभू श्री राधा-कृष्ण में अनन्य अनुरति पाकर परमानन्द में रमण करता हुआ, कर्म फल को भी त्याग देता है फिर कर्म त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाता है। भक्ति की परिपक्व अवस्था पाकर परमानन्द परिपूर्ण हुआ कर्म फल के उपयोग का भी ध्यान नहीं रख पाता और शनैः शनैः प्रभु अनुराग से मन बुद्धि में कर्म का भी बोध नहीं रह पाता इस तरफ परा भक्त कर्म फल व कर्म सन्यासी होकर सुख-दुःख आदि द्वन्दों से परे हो जाता है। विरक्त दीक्षा से कर्म फल का त्याग प्रभु शरणागति लेकर

किया जाता है। इस तरह भक्त उपासक, लौकिक कर्मफल को त्यागकर वैराग्य पूर्वक पराभक्ति में संलग्न रहता है। लौकिक कर्मों से त्याग भाव रखता है, दु:ख क्लेश की कामासक्ति जन्य द्वन्द से विरक्त होकर निर्द्वन्द हो जाता है। निर्भय, निर्वैर और निश्चिन्त रहता है। विरक्त दीक्षा के बिना भी अनन्य साधक की यह विरक्त भाव भूमि हो सकती है। और जो विधिवत संन्यास ग्रहण करता है। उसे तो समस्त कर्मफल और कर्मो का त्याग यथेष्ट ही है। यहां त्यागी विरक्त व सन्यासियों की सम्प्रदाय परम्परा भी है।

वेदानपि संन्यस्यति केवलम विच्छिन्नानुरागं लभते ॥ 49 ॥

अविछन्न प्रभु अनुराग में प्रमोन्मत्त रहने वाले पराभक्त को वैदिक कर्म-कर्त्तव्य का बोध नहीं रह पाता वह केवल भगवत प्रेम में ही तन्मय हुआ रहता है। और लौकिक कर्म कर्त्तव्यों का शास्त्र विधी से सम्पादन नहीं कर पाता अत: पराभक्त का यह विधी-निषेध राहित्य सर्वथा निर्मल और परम तृप्ति परिपूर्ण हैं और शास्त्र वर्णित परमोच्च आध्यात्मिक अवस्था अनुरूप है। वेदान्तिक भक्ति उपासना में यह आन्त्यतिक अवस्था है इस अवस्था पर भगवान व भक्त में अभेद हो जाता है। यही योग की भाषा ''केवल्य'' वेदान्त में ''भूमा'' भक्ति में प्रेम या परम सुख विद्या में आत्मरति व कोष में परमानन्द अवस्था है।

वेद में जगत के समस्त परिणामी-अपरिणामी प्रवृत्तियों का वर्णन है। यहां ''वेद'' के कर्तव्य को त्याग दे का अभिप्राय वेद के लौकिक परिणामी कर्तव्यों के सन्यास से है।

सन्यास अग्नि परिणामी लौकिक कर्मों से ऋण मुक्त होने पर या लौकिक सकाम कर्मों के त्याग पूर्वक लिया जाता है।

इसलिए सन्यास दीक्षा पर विधिवत अग्नि का त्याग कर दिया जाता है। क्योंकि अग्नि ही पिण्ड के लिए सकाम कर्मों के कर्मफलों का परिणाम रूप कालवृत बनाती है। अत: सकाम वैदिक कर्मों का त्यग कर परिणाम प्रवृत्ति से विरक्ति ले लेना तथा परम इष्ट की अविछन्न भक्ति में संलग्र होना सन्यास है।

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥ 50 ॥

पूर्व कथित अविछन्न भगवत भक्ति में भावापन्न भक्त जगत के क्लेशों से तर जाता है। और अपनी प्रेममयी कृपा से लोक समुदाय को तार देता है। पराभक्त

अपने जीवन व्यवहार से पराभक्ति की प्रेरणायें उत्पन्न करता है। परम अनुभव गम्य वचन प्रदान करता है। उससे लोक लोकान्तर में परम कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त होता है। ऐसे परम भावापन्न साधु के सद् संकल्पमात्र से जगत् क्लेश क्षीण होते हैं, ऐसे प्रेमोन्मत्त वैष्णव के दर्शन मात्र से पापक्षीण होते हैं, ओर पराभक्ति का उदय होता है।

अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम् ॥ 51 ॥

साधक जीव का साध्य श्री हरि के प्रति अनन्य अनुराग ही परम प्रेम है। यह परम प्रेम भक्त का आन्तरिक भाव है और अन्त:करण में अनुभव होता है यह प्रेम विभिन्न भाव यथा शान्त, सख्य, वात्सल्य दास्य, कान्ता, माधुर्य आदि भाव वाला हैं इन भावों में किसी भी भावानुराग से (पूर्व सूत्रों में कथनानुसार) द्वंद्वात्मक चित्त रहित अविछन्न प्रभुनुरागी का प्रेमानुभव अनिर्वचनीय हैं इस प्रेम को जैसा का जैसा वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता और सतत् नव नवीनतम सरस होने से इसका स्वरूप यथावत व्यक्त नहीं हो सकता यह केवल अनुभव गम्य है। भक्त जिस भाव से भी हरि को भजता है परम प्रभु उसे उसी रूप में अपना परम प्रेम प्रदान करते हैं।

किसी भी भाव से परमप्रेम प्रगाढ़ होने पर भक्त व भगवान का परस्पर समान प्रेमानुराग भाव हो जाता है। श्रीहरि, भक्त जीव से प्रेम करते हैं उसे चाहते हैं भक्त से मिलने को आतुर रहते हैं। भक्त के पुकारते ही दौडे चले आते हैं। इसी प्रेम अनुग्रह से श्रीहरि ने ध्रुव-प्रहलाद को कृतार्थ किया, गज का फंद छुड़ाया, शबरी के झूठे बेर खाये। श्री निम्बादित्य के मनोभावाानुसार नीम के ऊपर संध्या समय सूर्य बनकर चमकने लगे, नरसी का भात भरा, तुलसीदास के द्वारपाल बनकर रक्षा की। जयदेव के यहाँ स्वयं आकर ''गीत गोविन्द'' का छन्द पूर्ण कर गये, बिना बीज धन्ना का खेत निपजाया, मीरा द्वारा अर्पित दूध भरा कटोरा श्री विगृह में प्रकट होकर पी गये, सूर व विल्व मंगल की करूण पदावती को स्वयं आकर सुनने लगे, भक्त शिरोमणी हरिदास के पद गायन पर नृत्य करने लगे। इस तरह परम प्रभु अपने भक्तों पर अनिर्वचनीय कृपा करते हैं। उनकी इस कृपा आनन्द का सुख वाणी का विषय नहीं है। वरन ये तो प्रेम स्वरूप की प्रेम भाव के साथ अपने आप में भाव विहार करने वाली अनिर्वचनीय

अनुभूती है।

मूका स्वादनवत् ॥ 52 ॥

इस प्रेम का अनुभव गूंगे के स्वाद की तरह होता है। परम प्रेम की अवस्था में वाणी का लोप हो जाता है। श्रुति भी यही बात कहती है। अत: यह परम प्रेम अनिर्वचनीय है। परम प्रेम में रसानन्द का अनुभव होता है, तृप्ति का अनुभव होता है। परम प्रभु अपने स्पर्श-दर्शन, सम्भाषण आत्मरमण आदि कई सुख देते हैं। किन्तु उस सुख को व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह देहेन्द्रिय परम सुख को व्यक्त करने में असमर्थ है। इस परमसुख का परम भक्त केवल अनुभव कर सकते हैं इस अनुभव को वैसा का वैसा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

प्रकाशते क्वापि पात्रे ॥ 53 ॥

यह प्रेमोन्मत्त रसानन्द कभी-कभी किसी विरले पात्र में ही प्रकट होता है।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविछिन्नंसुक्ष्मतरमनुभ रूपम् ॥ 54 ॥

यह प्रेम गुण रहित है कामना रहित है प्रतिक्षण बढता रहता है। अविच्छन्न है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर व अनुभव रूप है। विषय विकार रहित होने से यह प्रेमानुभव गुण व कामना रहित है। निर्मल जीव व परम प्रभु के परस्पर अनन्य अनुराग रूप होने से यह प्रेम दिव्यरसरूप है और परस्पर नित्य निरन्तर नवीन प्रेमरति को बढ़ाने वाला है। असीम होने से अन्त रहित है व पूर्ण होने से अविछिन्न है। यह प्रेम निर्मल दिव्य होने से सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। निर्मल ज्ञान स्वरूप जीव को प्रेम स्वरूप प्रभु का अनुभव होता है अत: यह प्रेम ज्ञानानन्द अनुभव वाला है। वेदान्त में ''त देवा मृतमुच्चते'' निर्मल प्रेम स्थिति को अमृतमय कहा है। जिस अमृत से सर्वेश्वर प्रभु जगत को सामर्थ्य प्रदान करते हैं। उसी परम सामर्थ्यवान परम प्रभु को पाकर परम प्रेमी भावुक भक्त निर्मल अमृत अवस्था का प्राप्त करने वाला हो जाता है। अत: परम प्रेम माया विकार रहित सूक्ष्म अनुभव वाला है।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव श्रृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ॥ 55 ॥

परम दृष्टि को पाकर परम-प्रेमी सर्वत्र परम प्रभु के प्रेम को ही देखता है। परम प्रभु के प्रेम को ही कहता है। परम प्रभु के प्रेम का ही चिन्तन करता है। अर्थात सबमें प्रभु के स्वरूप का ही दर्शन करता है। परम प्रभु की लीला कथा महिमा ही कहता सुनता है और परम प्रभु का ही चिन्तन करता है।

सर्वेश्वर श्रीकृष्ण निर्मल दिव्य अमृत स्वरूप है। ''तदेव शुक्रं तत् ब्रह्मं तदेवामृतमुच्वते'' (क०उ०) श्री सर्वेश्वर ही इस जगत की अमृतमय शक्ति हैं। प्रभु सामर्थ्य को ही यहां शुक्र कहा गया है। उन्हीं के संकल्प से बंधा हुआ यह जगत भिन्न-भिन्न रूप और गुण तथा कर्म में समर्थ हो रहा है। सर्वेश्वर ही समस्त जगत का यथा योग्य रूप से नियमन कर रहे हैं। परम प्रभु अमृत स्वरूप ही सर्वत्र व्याप्त है तथा सर्व सामर्थ्य होते हुए भी सबसे सर्वथा निर्लिप्त है। ''एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्य्यामेष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्'' (मा०उ०६) वे सर्वेश्वर हैं सर्वज्ञ हैं सर्व व्याप्त हैं अतः ब्रह्म हैं जगत के निर्माता नियन्ता और अन्तर्आत्मा हैं।

जो काम क्रोध मद लोभ आदि विकारों को त्याग कर सर्वेश्वर श्रीकृष्ण की मधुर भाव भक्ति से परिपूर्ण हो जाता है, वह परम प्रेम को प्राप्त करता है। पावन हृदय परम प्रेमी की यह अमृत अवस्था है। इस अवस्था में साधक जीव की जगत के प्रति समभाव सम्पन्न सर्वात्म दृष्टि हो जाती है। प्राकृत दुविधा रहित इस समदृष्टि को सनतकुमार जी ने ''भूमा'' कहा है। ''यत्र नान्यपश्यति नान्यच्छृणोति'' (छ० ७/२४/९१) ऐसा भूमा सर्वत्र परम प्रभु के अलावा कुछ भी नहीं देखता कुछ भी नहीं सुनता अर्थात सबमें प्रभु को ही देखता और सुनता है या सर्वत्र एक आत्मा को ही देखता है। ईर्ष्या-द्वेष-मद-मोह-लोभ आदि विकारों से सर्वथा निर्लिप्त रहता है। अतः उसे श्रीकृष्ण का ही प्रेम सुनाई देता है, श्रीकृष्ण की ही लीला को देखता है और सर्वदा लीला पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण का ही चिन्तन करता है या सर्वात्मभाव हुआ एक अपनी आत्मा को ही देखता-सुनता है व चिन्तन करता है।

परम प्रेम अवस्था में उपासक जीव व उपास्य श्रीकृष्ण के बीच कोई पर्दा नहीं रहता यह परम प्रेम भाव से परस्पर एक दूसरे के सन्मुख हो जाते हैं। तन-मन-चित्त से निर्मल परमभक्त अन्तःबाह्य सब तरफ प्रभु प्रेम को ही प्रवृत्त

देखता है और परम प्रेम मय तो जाता है। भगवान तथा भक्त और भक्ति में कोई भेद नहीं है। तीनों ही अमृत स्वरूप हैं अन्तर है तो यह कि भगवान उपास्य है भक्त उपासक है और भक्ति उपासना का व्यवहार है। यह तीनों ही परस्पर प्रेम अनुराग से सम्पन्न होकर एक दूसरे का आनन्द संवर्धन करते हैं। रसानन्द वर्धक के लिए ही यह दो अमृत स्वरूप परस्पर की प्रेमानुराग परिपूर्ण भक्ति में संलग्न रहते हैं।

गौणी त्रिधा गुण भेदादार्तादि भेदाद्वा ॥ 56 ॥

पूर्व सूत्र में कही गई अनन्य प्रेमा भक्ति की अवस्था से पूर्व भक्ति की तीन अवस्था व्यवहार में होती है जिन्हें इस सूत्र में गौणी भक्ति कहा गया है। यह गुण भेद से तीन तरह की व भाव भेद से भी तीन तरह की है। गुण भेद से तम, रज व सत्व भेद वाली व अर्थार्थी जिज्ञासु और आर्त यह तीन भाव भेदवाली है। यह गौणी भक्ति ही सामाजिक परम्परा, आस्था व आर्तादि भाव रूप में व्यवहारित देखी जाती है। भक्ति साधना सुकृत से यह गौणी भक्ति ही मुख्य परा भक्ति को प्राप्त करा सकती है।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥ 57 ॥

पिछले सूत्र की व्याख्या में भक्ति के तीन भेद बताये गये तम, रज, सत तथा अर्थार्थी जिज्ञासु व आर्त। यह पूर्वा-पूर्व क्रम से एक के बाद दूसरी, उत्तरोत्तर श्रेयस्कर है। परम्परा से आस्था, पूर्वक सत्व आचरण व परम दीनार्त भाव श्रेयष्कर है। परम दीनार्त भाव से ही प्रेमामृत स्वरूप पराभक्ति की प्राप्ति होती है। यह परम प्रेम ही शुद्ध भक्ति है।

परम्परा भक्ति परम्परागत व्यवहार, शिक्षा-अध्ययन, धर्म संस्कार सदाचार, देव उपासन तिर्थाटन व देवालय में विराजमान श्री विग्रह की सेवा साधना, साधु अतिथि की सेवा सत्कार आदि है। इस परम्परागत भाव में सत-रज-तम तीनों ही मनोभाव पात्र के अनुसार विद्यमान होते हैं। परम्परा भक्ति सात्विक प्रभाव को पाकर अनन्य आस्था में स्थापित हो जाती है। रज प्रभाव से सकाम भक्ति प्रवृत होती है। तामसी प्रभाव से काम क्रोध मद मोह जनित भाव अनुष्ठान संपन्न होते हैं। सात्विक चिन्तनवाला परम्परा भक्ति से भगवद् श्रद्धा निष्ठा व आस्था को प्राप्त होता है। माता-पिता वैष्णव जन या विद्वानों से प्रेरित होकर परम्परागत

सात्विक संस्कारवान श्रीमद् गुरू से हरिनाम दीक्षा लेकर निष्ठावान वैष्णव हो जाता है। यह निष्ठावान वैष्णव, गुरू उपदेश के अनुसार वैष्णवी जीवनचर्या और भगवत भक्ति करता हुआ निर्मल सात्विक स्वभाव को स्थायी रूप से प्राप्त होता है। शनैः शनैः ईश्वर समर्पित जीवनचर्या और नियमित भगवत भक्ति करता हुआ परम दीनार्त भाव को प्राप्त करता है। जगद्गुरू निम्बार्काचार्य ने इस प्रभु समर्पित शारणागति को दैन्यभाव कहा है। आर्तभाव में सख्य, कान्ता, दास्य, वात्सल्य, निवेदन, विरह और माधुर्य आदि सभी भाव अवस्थाऐं आती है। यह अवस्था ही पराभक्ति की शुद्ध भाव अवस्था है। उत्तरोत्तर आर्त भक्त को परम प्रभु श्रीकृष्ण के दर्शन की अत्यन्त उत्कष्ठा उत्पन्न हो जाती है। पराभक्त परम प्रभु के विरह में व्याकुल होकर दैन्य निवेदन करने लगता है। विभिन्न हाव-भाव द्वारा प्रभु को पुकारता है, कभी अपने आपको ही हीन मानकर धिक्कारता है और कभी अपने अराध्य श्रीकृष्ण के विरद जस गाता है कभी इन्हें उलाहना भी देता है। उपास्य श्रीकृष्ण का स्मरण कर, लीला स्थल देखकर या लीला स्मरण करके उन्मत्त हो जाता है और लोक लाज की मर्यादायें भूल जाता है। भिन्न-भिन्न भक्त चरित्रों में भिन्न-भिन्न तरह की भाव प्रवृत्तियां देखी जाती हैं। कई धीर-गम्भीर भक्त परम शान्त, एकान्त और उन्मनी भाव से परम प्रभु की पराभक्ति में लीन रहते हैं। सामान्यतः भक्त अत्यन्त सहज व सामान्य बने रहकर अपनी परम प्रेम भक्ति के प्रभाव को जगत में प्रचारित नहीं करना चाहते।

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ 58 ॥

देवर्षि नारद जी कहते हैं कि अन्यान्य जो (कर्म योग ज्ञानादि) प्रभु प्राप्ति के मार्ग हैं उनमें भक्ति सभी के लिए सहज सुलभ है। अन्य साधनाओं में दक्षता नियम साध्यता आदि दुरूहतायें अधिक है। भगवद् आस्था, निष्ठा व हार्दिक लगन ही भक्ति के उपक्रम हैं और यह सबके लिए सहज सुलभ है।

प्रमाणान्तरस्यान प्रेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात् ॥ 59 ॥

कर्म, ज्ञान, योगादि साधना में शास्त्र, उपमान, अनुमान आदि-आदि प्रमाणों का आधार है। इन प्रमाणों के आधार पर ही इनकी प्रमाणिकता व श्रेष्ठता सिद्ध होती है। कर्म के लिए धर्म-स्मृति का प्रमाण चाहिए यज्ञादि कर्मों के लिए यज्ञ

कर्म सम्बन्धि ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमाण चाहिए। ज्ञान की प्रमाणिकता के लिए शास्त्रों का तर्क चाहिए। योग साधना में आसन-अभ्यास के अनुभव को अनुमान उपमान आदि से सिद्ध माना जाता है। योग व तप को अध्यात्म बल परिणाम से सिद्ध माना जाता है। भक्त, ईश्वर-श्रद्धा पूर्वक, निष्काम भाव से अपना कर्तव्य कर्म करता है। श्रद्धा भाव से सत्संग, धर्मकर्म, साधु-अभ्यागतों की सेवा और प्राणी मात्र का हितैषी होता है। भक्ति के सामान्य कर्मों को करते हुए भक्त को किन्हीं प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। भक्ति में भक्त के हार्दिक भाव से उत्पन्न सुखानुभुति स्वयं प्रमाण है। हार्दिक भाव भक्ति से लौकिक व पारलौकिक दोनों सुख अनुभव हो पाते हैं। भक्ति तो साक्षात परिणाम प्रदान करने वाली है।

परम्परागत संस्कारों द्वारा संस्कारित व्यक्ति में विश्वास से भक्ति प्रारम्भ होती है। इस प्राथमिक अवस्था में ईश्वर-आस्था के साथ व्यक्ति में परस्पर लघु दीर्घजन व सामाजिक कर्तव्य, ममता-स्नेह, वात्सल्य माता-पिता, गुरूजन, आचार्य का सेवा समादर व सद्भाव, कर्तव्यों का दायित्व पूर्ण अनुपालन निष्काम कर्म सम्पादन ही आस्तिक के भक्ति पथ को उन्नत करता है। आस्था से श्रद्धा, सात्विक आहार-व्यवहार, शुचिता, सदाचार, कर्तव्य का पालन, विनम्रता, सामाजिक सौहार्द और ईश्वर निष्ठा प्राप्त हो जाती है। अत: परम्परागत धर्म संस्कार से ही भक्ति का अवलम्बन है। धर्म स्मृतियों के कर्म गत प्रमाण का भक्त को ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। अगर ज्ञान है तो अच्छा है। अगर नहीं है तो मात्र परम्परागत विश्वास से ही भक्ति संस्कार प्राप्त हो सकते हैं। निर्मल संस्कार प्राप्त होने पर श्रीमद् गुरू से दीक्षा पूर्वक भक्ति अधिकार लिया जाता है। भक्त स्वभावत: ही सर्व हितैषी और निर्मल चरित्र होने के कारण श्रेयस्कर फल प्राप्त करता है। निष्काम कर्म, धर्म सदाचार के पालन से आने वाले कष्टों को सहज सहन करने की क्षमता, कष्ट, सहिष्णुता, संतोष और ईश्वर-श्रद्धापूर्वक, नियमित स्मरण ध्यान से हृदय निर्मल हो जाता है और पावन हृदय में दैन्य भाव स्थिर हो जाता है। निर्मल हृदय गत दैन्य भाव से भगवान का स्मरण, जप व कीर्तन सहज ही होने लगता है व भक्त के सामने समस्त प्रमाण प्रत्यक्ष होने लगते हैं शास्त्र ज्ञान स्वत: ही प्रकाशित होने लगता है भगवत् लीला और प्रकृति

के अद्‌भुत रहस्यों का उद्‌घाटन होता है। अद्‌भुत लौकिक, दिव्य व अलौकिक रचना रहस्यों को जानकर भी विचक्षण धीर सुद्ध भक्त, गम्भीर बना रहता है। अत: भक्ति को किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है वरन भक्ति स्वयं प्रमाणों की जनक व अपने आप में स्वयं प्रमाण है।

शान्तिरूपात्परमानन्द रूपाच्च ॥ 60 ॥

भक्ति शान्तिस्वरूप व परमानन्दरूप है।

निर्मल तन-मन-चित्त बुद्धि से परम प्रभु के प्रति अनन्य अनुराग ही भक्ति है, यही परम प्रेम हैं। इस माधुर्य भाव को ही अमृत अवस्था कहा गया है। भक्ति की विशुद्ध अवस्था में भक्त, भगवान और भाव की अमृत अवस्था हो जाती है। इस अवस्था में भक्त और भगवान परस्पर मधुर भाव रमण करते हैं। भक्त और भगवान परमशान्त अवस्था में प्रेमाबद्ध हो परमानन्द में मग्न रहते हैं।

परम प्रभु तो शान्ति स्वरूप और परमानन्द स्वरूप कहे ही गये हैं। परमेश्वर इस विश्व के समस्त भौतिक पदार्थों के गुण सामर्थ्यों की परामृत शुक्र शक्ति के रूप में निहित हैं। देह में साक्षी भूतात्मा के रूप में विद्यमान है। विश्व के नियत्रत्व नियमों में नियन्ता होकर विद्यमान है। अपने अवतार स्वरूप और निजधाम में अपने दिव्य कला ऐश्वर्य स्वरूप से विद्यमान है। उपासना भाव, साधना स्थली, प्रतिष्ठित श्री विग्रह, तीर्थ और भक्तों के साथ परम प्रभु अपनी दिव्य प्रभा सहित विद्यमान है।

जगत की भावना करने वाले की जगत विषय में ही गति मति होती है अत: उनका मन चंचल और अशान्त बना रहता है जो इन विषयों से अनासक्त हो प्रभु की भावमय भक्ति करता है वह शनै: शनै: शान्त चित्त होता हुआ परम प्रभु के दिव्य भाव को प्राप्त करता है। भक्त उपासक का अन्त:करण व बाह्यवातावरण शान्तिप्रद और सौम्य होता जाता है। भक्त उपासक के मन मानस व आसपास परम प्रभु की दिव्य प्रभा विकसित होने लगती हैं इसका अनुभव भक्त साधक को होने लगता है। विशुद्ध पराभक्ति की अवस्था में भक्त, भाव से परमप्रभु के दिव्य स्वरूप का दर्शन करता हुआ परमशान्ति और परमानन्द को प्राप्त करता है। और अत्यान्तावस्था में इस शरीर को छोड़ता हुआ दिव्य भाव वपु से परम ईष्ट प्रभु के नित्य धाम गौलोक को पदार्पण कर जाता है। परम भाव व भाव

वपु ही भक्ति का स्वरूप है जिसके द्वारा भक्त परम प्रभु को प्राप्त करता है, अत: यह भक्ति परमशान्त और परमानन्द स्वरूप है।

लौकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोक वेदत्वात् ॥ 61 ॥

भक्त को लोकहानि की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। क्यों नहीं करनी चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर जानने से पहले लोक हानि क्या है? यह जान लेना चाहिये। भौतिक व सामाजिक समृद्धि व सम्पन्नता को ही लौकिक समाज में लाभ माना जाता है। स्त्री, सन्तान, धन, सम्पदा, भूमि, भवन व भौतिक सुखों व भोग की वस्तुए, मान-सम्मान व राज सुख को लौकिक समाज में लाभ व इनकी हानि को हानि माना जाता है। लौकिक लाभ की चिन्ता में मानव कई तरह के सकाम कर्मों का सम्पादन करता है। इनका यथेष्ट लाभ होने पर प्रसन्न व यथेष्ट लाभ न होने पर चिन्ता करता है। इस तरह व्यक्ति का चित्त काम, क्रोध, ईर्ष्या, मोह से ग्रस्त होकर व्यग्र रहने लगता है। लौकिक चिन्ता चिन्तन से मन मानस सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्ण का स्मरण नहीं कर पाता अत: देवर्षि नारद जी भगवान का स्मरण विसारणे वाली लाभ हानि की चिन्ता नहीं करने का निर्देश देते हैं।

फिर भक्त को क्या करना चाहिए? क्या लोक जीवन छोड़कर भाग जाना चाहिए? इसका समाधान सूत्र में आगे बताया है। भक्त लौकिक, वैदिक नित्य-नैमेतिक कर्तव्य कर्मो को प्रभु की शरणागति पूर्वक सम्पादित करें। और उन्हें प्रभु श्रीसर्वेश्वर को अर्पित कर देना चाहिए इस तरह जब जीवन के कर्तव्य प्रभु समर्पण पूर्वक सम्पन्न होते हैं तो जिस तरह प्रतिष्ठान का स्वामी ही लाभ-हानि का उत्तरदायी होता है उसके अन्तर्गत काम करने वाले नहीं इसी तरह प्रभु को समर्पित होकर लौकिक कर्म करने वाले भक्त की लाभ-हानि के स्वामी श्रीराधा माधव ही होते हैं। शरणागत भक्त की समस्त उचित आवश्यकताओं की पूर्ति श्रीराधा सर्वेश्वर स्वयं ही कर देते हैं। इसी उत्तरायण मार्ग की समर्पित भक्ति का उपदेश आचार्य श्री निम्बादित्य ने यह कह कर दिया है-''स्मरेम देवी सकलेष्टकामदम्।'' (वे.द.5)

न तत्सिद्धौ लोकव्यवहारो हेय: किन्तु फल त्याग स्तत्साधनं च कार्यमेव ॥ 62 ॥

जब तक प्रेम-भक्ति की स्वाभाविक प्रेमोन्मत अवस्था सिद्ध न हो जावे तब

तक लोक व्यवहार अर्थात जीवन के कर्तव्य को हेय नहीं समझना चाहिये और इन्हें त्यागना नहीं चाहिये। ज्ञान व योग मार्गी जीवन वृत्ति के कर्तव्यों को हेय बताते हैं और जीवन के कर्तव्य को बलात छोड़ने का निर्देश भी दे देते हैं। भक्ति में कर्तव्य को त्यागना उचित नहीं है वरन् कर्तव्य कर्म करते हुए कर्तव्यों से प्राप्त फलासक्ति को त्यागना चाहिये और ईश्वर समर्पण पूर्वक कर्तव्य कर्म का सम्पादन करना चाहिये।

स्त्री धन नास्तिक वैरि चरित्र न श्रवणीयम् ॥ 63 ॥

स्त्री धन नास्तिक और वैरि का चरित्र नहीं सुनना चाहिये। आचार्य निम्बार्क ने भी इन्हें भक्ति विरोधी बताया है।

स्त्री का चिन्तन काम व्यसन के रूप में नहीं किया जाना चाहिये। स्त्री-पुरुष सबन्धी काम वासना मय व्यवहार, चरित्र कथानक नाटक और गायन, नृत्य सिनेमा, अश्लील साहित्य उपन्यास आदि से काम वासना की स्फूरणा होती है जिससे मनस चित्त पर कई तरह की विकृति उत्पन्न होती है। काम के वसीभूत हुआ व्यक्ति शराब, जूवा, चोरी, छल और कई तरह के सामाजिक कदाचरण व अपराधिक वृत्तियाँ करने लगता है। अत: ऐसे मनोरंजन का त्याग कर देना चाहिये काम-वासना सम्बन्ध से स्त्री का चरित्र चिन्तन श्रवण नहीं करना चाहिये। काम-वासना त्याग रूप ब्रह्मचर्य ही भक्त को उत्तरोत्तर प्रेम भक्ति की और अग्रसर करता है जिसने काम वासना को नहीं त्यागा वह भक्ति को नहीं पा सकता।

लोक व्यवहार में धन की बड़ी महिमा है। धन-सम्पदा का यंत्र-तंत्र वैभव देखा-सुना जाता है उसके पास इतना स्वर्ण व मुद्रा का धन है इतने नोकर-चाकर हैं ऐसा, भव्य भवन है कितने ही वाहन है आदि-आदि ऐसे धन सम्पदा के चरित्र चिन्तन करने से धन ऐषणा उत्पन्न हो जाती है जो कदाचार और अनाचार आदि अपराध को बढावा देती है। आसक्तियाँ बढ़ जाती है जिससे मनस चित्त में ईश्वर का चिन्तन नहीं हो पाता अत: भक्त को धन वैभव सम्बन्धी आसक्ति पूर्ण चरित्रों का श्रवण व चिन्तन नहीं करना चाहिये।

जो धर्म, ईश्वर, वेदादि-शास्त्र व धर्म गुरू में आस्था नहीं रखते वह नास्तिक हैं। ऐसे नास्तिक मानव मर्यादा के अन्तर्गत नहीं रह पाते। अमर्यादित होने से

यह नास्तिक पशुओं की तरह ही भले-बुरे के व्यवहार से अनभिज्ञ व स्वछन्द होते हैं। नास्तिक लोक जीवन में चाहे कितने भी वैभव सम्पन्न हो वे प्राणी प्रकृति के हितैषी नहीं होते नास्तिक पर विश्वास नहीं करना चाहिये व नास्तिक के चरित्र का गुणगान नहीं करना चहिये। जो सात्विक व्यक्तियों के जीवन व सात्विक कार्यों में बाधा उत्पन्न करे जो साधुजनों से द्वेष करे प्राणियों को कष्ट दें जो परस्पर ईर्ष्या द्वेश रखते हों, जो शास्त्र मर्यादा की हानि करते हों ऐसे अधार्मिक वैरी (शत्रु) कहलाते है। रावण, कुम्भकर्ण, कंस आदि जैसे राक्षस़ दैत्य व दानव, भूत-प्रेत व पिशाचों को पूजने वाले, साधु ब्राह्मणों की भक्ति व जन सामान्य के वर्ण आश्रम कर्तव्यों में विध्न डालने वाले, भय पैदा करके लोगों को लूटने वाले, शोषण करने वाले, अपने अधिकार का दुरुपयोग करकें, प्रजा को सताने वाले शासक, भ्रष्टाचारी, छली, पाखण्डी व आततायी जो परस्पर वैमनस्यता रखते हों, शत्रु कहलाते हैं। अत: ऐसे वैरी चारित्र का न कभी गुणगान करे न सुने व न इन्हें स्वीकार करें क्योंकि इसके चिन्तन से धर्म व भगवद् भाव में बाधा आती है मन मलीन होता है।

अभिमान दम्भादिकं त्याज्यम् ॥ 64 ॥

भक्त के जीवन में परिवार व साधन सम्पदा भी होती है किन्तु इनके प्रति वासना व आसक्ति नहीं होती। वासना और आसक्ति से अभिमान व दम्भ आदि विकार उत्पन्न होते हैं जो विशद रूप से नास्तिक में पाये जाते हैं अत: नारद जी इस सूत्र में विशेष रूप से कह रहे हैं कि भक्त को अस्वाभाविक रूप से लोक जीवन को त्यागने की जरूरत नहीं है वरन् जीवन में अभिमान व दम्भादि को सर्वथा त्याग देना चाहिये इनका त्याग ही वैराग्य की सिद्धि प्रदान करने वाला है। दैन्य भाव का उपदेश श्री निम्बार्काचार्य ने अभिमान व दम्भ त्याग व धर्मश्रद्धा समर्पित नम्रता के लिए ही किया है इससे विनय सरलता करूणा पूर्वक निर्मल परमभाव भक्ति की स्फूरणा होती है।

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥ 65 ॥

"उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोंऽनुवृत्तेः"

(वे.द.) जन्म जन्मान्तर के कर्म प्रवाह से जीवन की अनुवृत्ति हो रही है

यह वृत्ति सहज में ही निवृत्त होने वाली नहीं है अत: निवृत्ति चाहने वाले को राधा सर्वेश्वर की सदैव उपासना करनी चाहिये।

प्रभु समर्पित जीवन चर्या का पालन करते हुये भी कर्म प्रवाह से काम क्रोध अभिमान आदि की स्फूरणा संताप व्यथा से न्यूनाधिक रूप में कभी भी हो सकती है। ऐसे समय में भक्त को सतर्क होकर इन काम क्रोध-अभिमान आदि को भी मन-चित्त-बुद्धि सहित प्रभु श्री सर्वेश्वर कृष्ण को समर्पित कर देना चाहिये इससे इन विकारों की प्रवाहवृत्ति अवरूद्ध हो जाती है।

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदास नित्यकान्ता भजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम प्रेमैव कार्यम् ॥ 66 ॥

मनस चित्त के सत-रज-तम गुण प्रभाव से काम-क्रोध अभिमानादिक कर्म प्रभाव द्वारा दैहिक भौतिक दैविक रूप वृत जीवन में बनता है। जब मनस चित्त प्रभु समर्पण पूर्वक त्रिगुण प्रभाव की आसक्ति से रहित हो जाता है तब कर्मवृत्ति बद्धता का भंग होता है। इस त्रिगुणातीत स्थिति में भक्ति की अविचलित स्थिति सिद्ध होती है। विरहा भाव से यह त्रिरूपा आसक्ति क्षीण होती है तथा परम प्रेम अवस्था में इस त्रिरूपता का भङ्ग हो जाता है। आचार्य निम्बार्क ने ''त्रिरूपताऽपि श्रुति सूत्र साधिता'' (वे.द. 7) इस त्रिरूपता को श्रुति स्मृतियों से साधित बताया है।

त्रिरूपता की निवृत्ति के उपरान्त अनन्य परम प्रेम स्थिति उत्पन्न होती है यह परम प्रेम स्थिति अमृत स्थिति है इस परम प्रेम स्थिति में ही भक्त के द्वारा भगवान की नित्यदास, नित्यकान्ता आदि भावों से निरन्तर भक्ति की जाती है इसमें प्रेम ही कर्ता, कर्म व कर्तव्य है और प्रेम ही उपास्य है। प्रेम प्रगाढ़ता पर जगत, उपासक व उ़पास्य (श्रीराधा सर्वेश्वर) की एक ही प्रेम स्थिति हो जाती है परम प्रेम का वर्णन पूर्व सूत्र में भी किया जा चुका है।

भक्ता एकान्तिनो मुख्या ॥ 67 ॥

जन समुदाय में रहे या निर्जन में अनन्य प्रेमी भक्त एक मात्र श्री राधा कान्त के ही भाव से परिपूर्ण होने के कारण एकाग्र वृत्ति वाले होते हैं। उन्हें सर्वत्र अपने अनन्य प्रियतम का ही वास व सानिध्य प्रतीत होता है। हाँ, एकाग्रता के लिए भक्ति में एकान्त की मुख्यता है क्योंकि एकान्त में ध्यान सुगमता से होता है।

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवी च ॥ 68 ॥

त्रिगुणातीत अवस्था वाले प्रेमी भक्त दास्य, कान्त सख्य, वात्सल्य माधुर्य आदि भावों से अपने प्रियतम श्री माधव के प्रेम से परिपूर्ण रहते हैं और कभी रोमाञ्चित व कभी गद्गद् कण्ठ होकर अनन्य भाव से अपने प्रियतम श्री हरि से अनुराग करते हैं कभी ध्यान स्मरण व कभी कीर्तन करते हुऐ आनन्द से परिणूर्ण होते हैं कभी श्री राधागोविन्द का परस्पर चरित्र कथन करते हुऐ प्रेमोन्मत्त हो जाते हैं यह प्रेम प्रस्फुटन अवस्था है। परम प्रेमी भक्त से उनके कुल व पृथ्वी पवित्र हो जाती हैं। जिन्हें ऐसे प्रेमी भक्तों के दर्शन प्राप्त है वे धन्य है। सूत्र 51 में इस परम सुखानुभूति को अनिर्वचनीय कहा है।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि ॥ 69 ॥

ऐसे प्रेम प्रस्फुटित भक्त तीर्थों को सुतीर्थ कर्मो को सुकर्म व शास्त्रों को सद्शास्त्र कर देते हैं।

इन प्रेम प्रफुल्लित भक्तों के तीर्थों में पदार्पण व स्नान करने से तीर्थो के एकत्रित हुऐ पाप नष्ट हो जाते हैं। जहाँ प्रेमी भक्त रहता है वह स्थान तीर्थ हो जाता है क्योंकि प्रेमी भक्त के साथ भगवान सदैव रमण करते हैं और जहाँ-जहाँ वे जाते हैं वहाँ वहाँ का वातावरण निस्पाप व भगवतमय हो जाता है।

जो कर्म भक्त करते हैं वह कर्म सुकर्म बन जाता है उसका अनुसरण करके दूसरे लोग सुकर्म में प्रवृत्त होते हैं क्योंकि साधु-जनों का ही अनुसरण दूसरे लोग करते देखे गये हैं।

भक्तों को भगवान का प्रेम प्रदान करने वाला शास्त्र ही प्रिय होता है अतः प्रेमी भक्त जिस शास्त्र को अपनाते हैं वे दूसरे श्रद्धालुओं के लिए सद्शास्त्र हो जाते हैं। और यह परमानन्द मग्र भक्त जो वाणी कहते हैं वे वचन शास्त्र हो जाते हैं आस्तिकों को इनके वचनों से परमार्थ की प्राप्ति होती है।

तन्मयाः ॥ 70 ॥

त्रिगुणातीत, द्वन्द्वातीत हुआ प्रेम प्रफुल्लित भक्त तन-मन-बुद्धि से परम प्रभु में तल्लीन हो जाता है। परम प्रेमोन्मत्त हुआ मन-कर्म-वचन से प्रभु के भावानुकूल

व्यवहार ही करता है। प्रेमोन्मत्त की मन-प्राण-बुद्धि प्रभु के अन्तर्गत ही हो जाती है परम प्रभु से भिन्न प्रेम प्रवण का कोई अस्तित्व नहीं होता सर्वथा परम प्रभु के अन्तर्भूत प्रेमोन्मत्त तन्मयासक्त है। ऐसा तन्मयासक्त सब में परम प्रभु को ही देखता है परम प्रभु का ही प्रभाव सुनता है और उन्हीं के सेवा कीर्तन में मनमस्त रहता है।

सूत्र 51 में इस प्रेम स्वरूप अवस्था को अनिर्वचनीय कहां है और इसके अनुभव को गूगे के स्वाद के समान कहा है।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥ 71 ॥

जिस कुल में, जिस देश में, जिस कालावधि में पृथ्वी पर ऐसे तन्मय (भूमा) प्रेमी भक्त का आविर्भाव होता है उस कुल, धर्म, समाज के पितरगण प्रमुदित होते हैं क्योंकि इस प्रेमोन्मत्त भक्त से उस कुल व समाज का उद्धार होता है उस भक्त का श्रद्धालु अनुसरण कर भक्ति को प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं। यह एक ही भक्त सर्वविध कईयों को कृतार्थ करता है। भक्ति से पापवृत्तियों का क्षय होता है असुरों का पराभव व देवों का साम्राज्य विकासमान होता है। देवता नाचते हैं, पृथ्वी से पाप का भार कम होता है व भक्त की प्रेरणा से पुण्य कर्मो का उदय होता है अतः पृथ्वी सनाथ हो जाती है।

नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रियादिभेदः ॥ 72 ॥

तन्मय व प्रेम प्रफुल्लित स्थिति में भक्त वर्णातीत व आश्रमातीत हो जाता है। त्रिगुण रूप आसक्ति से रहित होने के कारण अमृत स्वरूप हो जाता है। इस प्रेम भक्ति में भक्त की जाति, विद्या, रूप, कुल, धन व क्रिया आदि भेद नहीं है। अनन्य भक्ति में केवल परम प्रभु के प्रति अनन्य भाव भूमि होती है ऐसा तन्मयासक्त प्रेमी भक्त निम्न जाति कुल में जन्म होने पर भी श्रेयस्कर है शास्त्रज्ञ न होने पर भी उसके वचन शास्त्रज्ञ की तरह पालनीय व आदरणीय है।

इसके अतिरिक्त भक्ति पथ में भी भक्ति के उपक्रम भगवद् भाव आश्रित हैं। जाति, कुल, रूप, धन, विद्या आदि के क्रिया भेद से रहित हैं। यह जाती कुल धन क्रियागत भेद मात्र संसारिक जीवन की सद्व्यवस्था हेतु कर्तव्य सम्पादन के लिए वेदादि शास्त्रों में धर्म मर्यादा रूप किये गये हैं भक्ति के लिए नहीं। किसी भी जाति कुल का रूप, कुरूप, गोरा, काला, धनिक, निर्धन कोई भी किसी भी देश काल में श्रद्धा पूर्वक परम प्रभु श्रीराधा-कृष्ण की भक्ति कर

सकता है।

यतस्तदीया ॥ 73 ॥

परम प्रेम भक्ति में जाति, कुल, रूप, धन आदि क्रियागत भेद क्यों नही किये गये हैं ? भगवद् भक्त का हार्दिक अनुराग भगवान के लिए होता है वह भक्त भगवान के मनोनुकूल ही व्यवहार करता है सब कुछ समर्पित करके भक्त उन्हीं का हो जाता है और भगवान भी उसे अपना लेते हैं अतः यह भाव व भक्त उन भगवान के ही हैं।

वादो नावलम्ब्यः ॥ 74 ॥

भक्ति तो गुरू-हरि श्रद्धा व नित्य निरन्तर नियमित व अखण्ड श्री राधा-माधव भजन, चिन्तन व नाम स्मरण से प्राप्त होती है। यह भावपूर्ण भजन निश्चित सर्व्रेश्वर श्री हरि की ओर ले जाने वाला मार्ग है इनमें वाद-विवाद से कोई नवीन निष्कर्ष प्राप्त होने वाला नहीं है अतः इसमें वाद की कोई गुञ्जायस नहीं है। शास्त्रीय वाद-विवाद से ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। अतः भक्त को वाद-विवाद नहीं करना चाहिय भक्त को तो निरन्तर भजन ही करना चाहिये। ''उपासनीयं नितराम जनै सदाः ॥'' (श्री निम्बार्काचार्य)

बाहुल्यावकाशाद नियतत्वाच्च ॥ 75 ॥

कर्माभ्यास गत् संसारिक वाद-विवाद विकार वृत्ति विस्तार (बाहुल्यता) प्रदान करने वाला है चित्त को मल आवरित करने वाला है। चित्त वृत्ति को अनावरित करने वाला नहीं है अतः बंधन को प्रगाढ करने वाला है प्रभु भाव भक्ति को बढ़ाने वाला नहीं है और इसकी कोई नियति नहीं है परिणति नहीं है। इस बाहुल्यता रूप अनियत वाद को त्याग कर निरन्तर श्री राधा सर्वेश्वर की उपासना ही सर्वदा सुख को प्रदान करने वाली है।

भक्ति शास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधक कर्माण्यपि करणीयानि ॥ 76 ॥

भक्त को भक्ति शास्त्र का मनन करना चाहिये। ईश्वर के लीला चरित्र, श्रीमद्भागवद्, रामायण पुराण व अवतार लीला, भक्त चरित्र जो भक्ति को प्रेरित व पुष्ट करने वाले हैं उनका स्वाध्याय मनन करना चाहिये और इन ग्रन्थ चारित्रों में प्रेरित ऐसे कर्म करने चाहिये। जिनसे भक्ति रस की वृद्धि हो। अपने

वर्ण आश्रम के कर्त्तव्यों का निस्काम भाव से पालन करना, सदाचार का पालन सभी प्राणियों से प्रेम व सोहार्द का बर्ताव, सत्संग साधु-संत सेवा सत्कार व सब प्राणियों में भगवान वासुदेव का वास समझते हुऐ सभी कर्म भगवान को अर्पित करते हुऐ निरन्तर प्रभु स्वरूप स्मरण व नाम गुण कीर्तन करना चाहिये इससे भक्ति भाव की वृद्धि होती है।

हरि व्यास देवाचार्य जी महाराज ने कहा है :-

जो कोई प्रभु के आश्रय आवे। वे अनन्याश्रय सब छिट कावे॥
विधि निषेध के जेजे कर्म। तिनको त्यागि रहे निष्कर्म॥
झूट क्रोध निन्दा तज देवे। बिन प्रसाद मुख और न लेवे॥
सब जीवन पर करूणा राखे। कबहू कटुक वचन नहीं भाखे॥
मन माधुर्य रस माहि समोवे। घरी पहर पल वृथान खोवे॥
सत गुरू के मारग पग घारे। हरि सत गुरू विच भेदन पारे॥
ए द्वादश लच्छिन अवगाहे। जे जन परा परम पद चाहे॥

सुख दुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थ न नेयम् ॥ 77॥

सुख दुःख इच्छा लाभ आदि से निस्प्रभावित सर्वथा निर्मल निलिप्त परम प्रेम अवस्था प्राप्ति तक जीवन में एक क्षण भी प्रभु भजन बिना व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये।

ईश्वर अंशी जीव ज्ञानपुञ्ज श्री सर्वेश्वर का अंश होने से ज्ञान स्वरूप ही है किन्तु अणु मात्र यह जीव प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न स्थित होकर अनादि मायामय जगत की विषय गत आसक्ति से परियुक्त हो जगत बंधन से बंधा हुआ है। जन्म-जन्मान्तर की कर्म प्रवाह वृत्ति के कारण ही जीव जगत के सुख-दुःख इच्छा लाभ आदि से प्रभावित होता है। यह माया बंधन हरि की कृपा से छूटता होता है। जीव जब आसक्ति से मुक्त हो जाता है तो विषय मुक्त हुआ जीव ज्ञानस्वरूप हो जाता है और ज्ञान समुद्र श्री राधा कृष्ण का सानिध्य सुख प्राप्त कर लेता है। इस क्षण जीव की निर्मल अमृत स्थिति होती है इस निर्मल भावावस्था में जीव राधा कृष्ण का सेवा सुख पाता है। जैसे ही यह परम प्रेम भाव स्थिति प्राप्त हुई, जगत के सुख-दुःख व इच्छा-लाभ का त्याग हो जाता है।

यह त्याग निरन्तर श्री राधा सर्वेश्वर की भावाराधना से होता है अत: एक क्षण भी सेवा सुमिरण के बिना व्यर्थ नहीं खोना चाहिये।

यह माया मय भौतिक जगत कालक्रम से प्रवृत्त हो रहा है। इस जगत की उत्पत्ति परमेश्वर के संकल्प मात्र से हुई और इस जगत का नियंत्रण भी वे सर्वेश्वर श्री कृष्ण ही अपने सनातन नियम से करते हैं अत: यह जगत स्वतंत्र नहीं है ईश्वर के सनातन नियमों के अधीन प्रवृत्त हो रहा है। वे सर्वेश्वर सम्पूर्ण जगत में शक्ति रूप से व्याप्त है। जगत के माया विकार ही जीव को सुख दुख के रूप में अनुभव होते हैं।

जीव सर्वेश्वर श्रीकृष्ण का अंशी है अणु स्वरूप व प्रतिदेह में भिन्न-भिन्न है। जीव प्रति देह में स्थित होकर संकल्प व कृति वृत्ति के लिए स्वतंत्र है। माया विषयी संकल्प की कृति वृत्ति से जीव माया के सुख दु:ख में बंधता है व प्रयत्न पूर्वक परमेश्वर की भक्ति उपासना करता हुआ विषयों से मुक्त हो परम भक्ति को पाकर ज्ञान व अमृत स्वरूप हो जाता है। जीव व प्रकृति दोनों ईश्वर के अधीन है। जीव की मुक्ति भगवान की भक्ति से ही होती है व जीव की प्राकृत देह मृत्युपरान्त अपनी-अपनी पदार्थ प्रकृति में लीन हो जाती है। प्रेमोन्मत्त जीव की प्राकृत बीज वृत्ति नष्ट हो जाती है जबकि प्रकृति की प्राकृत बीज वृत्ति ईश्वर के अधीन प्राकृत क्रिया प्रवृत रहती है। बन्धन मुक्त जीव परम रसामृत को प्राप्त हो जाता है।

सर्वेश्वर श्री कृष्ण प्रकृति व जीव दोनों के ही नियन्ता नियामक हैं। ज्ञान पुञ्ज व दिव्य विग्रह है अमृतरस शक्ति में सर्वत्र व्याप्त है विषय निवृत्त परम प्रेम भावावस्था में भक्त को अपना अनुभव कराते हैं व समस्त विषय विकरों से निर्लिप्त हैं।

स्वामी परसुराम देवाचार्यजी महाराज जग-जीव के सर्जनहार प्रभु को ही जीव का कल्याण कर्ता व अभिन्न सगा (अपना) बताते हैं-

माया सगी न मन सगों सगो न यह संसार।
परसुराम या जीव कौ सगो है सर्जनहार॥

अहिंसा सत्य शौच दयास्तिक्यादि चारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥ 78 ॥

अंहिसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता और सदाचरण का निष्ठा पूर्वक पालन करना चाहिये।

जीव का जब तक जगत से सम्बन्ध है तब तक वह जगत से प्रभावित रहेगा ही। यह प्रभाव जीव की मानसिक वृत्तियों के अनुरूप है। प्रकृतितः प्राणी विषयों की तरफ आकर्षित होता है और देह सम्बन्ध से प्राणी में विषय भोग की क्षुधा पूर्ण वाच्छा उत्पन्न होती है। शरीर भी विषयगत है और इसका पोषण भी विषय पदार्थों से ही होता है इस शरीर साधन से ही संकल्प व कृति वृत्ति आयोजित की जाती है यह सारा तंत्र ईश्वर के अधीन है। प्राणी द्वारा जगत में सम्पन्न होने वाली यह कृति वृत्ति दो तरह की है-सद् और असद्। असद् वृत्ति विषयगत भोगेच्छा को असद् आचार व्यवहार से भी पूरा करके दैहिक सुखोपभोग पाना चाहती है जिसके परिणाम स्वरूप हिंसा, चोरी, लूट, झूंठ, अपवित्रता, क्रूरता, परस्पर अविश्वास, अश्रद्धा, नास्तिकता व अनाचार उत्पन्न होता है। इन सब वृत्तियों से जीव का बंधन तो प्रगाढ़ होता ही है साथ ही सामाजिक जीवन भी कलह व यातनापूर्ण हो जाता है असद् वृत्ति का प्रभु असद् परिणाम ही प्रदान करते हैं। सद्वृत्तियाँ असद् वृत्तियों से सर्वथा विपरित है इनके व्यवहार से समाज में सुख व सोहार्द उत्पन्न होता है। सद्वृत्तियाँ जीवन जीने की सहज व सोम्यता पूर्ण समृद्धिदायक कला है। इन सद्वृत्तियों को धर्म कहते हैं। यह अंहिसा, सत्य, शोच, दया, आस्तिकता आदि सद्वृत्तियों धर्म के मूलाधार है इनसे जीवन यापन सरलता पूर्वक होता है व जीव का मलावरण भी क्षीण होता है। प्राथमिक रूप से यह सद्वृत्ति जीवन पर्यन्त साध्य है परम्परा भक्ति से उत्तरोत्तर आगे सद्वृत्तियाँ भक्त का स्वभाव बन जाती हैं और विरहा तथा परम प्रेम स्थिति में असद् वृत्तियों की कल्पना भी असम्भव ही है फिर भी इस असद्वृत से सावधान करते हुऐ नारद जी कहते हैं कि भक्त को इन सद्वृत्तियों का नियम पूर्वक पालन करते हुऐ जीवन यापन करना चाहिये।

पूज्य हरिव्यास देवाचार्य जी महाराज ने भक्त को भक्ति मय जीवन चर्या के सूत्र बताये हैं।

जाके दस पैडी अति दृढि हैं। बिन अधिकार कौन तहा चढी है।
पहले रसिक जनन को सेवें। दूजि दया हियधरि लेवे।

तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनी है चौथी कथा अतृप्त हो सुनि है।
पंचमी पद पंकज अनुरागे। छठी रूप अधिकता पागे।
सप्तमि प्रेम हिये विरधावे। अष्ठमी रूप ध्यान गुण गावे।
नवमी दृढता निश्चै गहिये। दसमी रस की सरिता बहवे।
या अनुक्रम कर जे अनुसरही। सनै सनै जगते निरबर ही॥

परमभक्ति के अधिकारी को दस चरण की इन पैडियो से अर्थात इनका मन, कर्म, व वचन से व्यवहार करने पर भक्ति प्राप्त होती है। प्रथम चरण साधु-संत ब्राह्मणों की सेवा सतसंग व दीक्षा प्राप्त करना दूसरा हृदय में सहिष्णुता अंहिसा दयादि धर्माचरण का भाव तीसरा धर्म सदाचार का निष्ठा से व्यवहार चौथा भगवत् लीला कथा श्रवण मनन पठन के प्रति लगन व पांचवा श्री हरि के पद पंकज के प्रति अनुराग व नाम जप छटी श्री राधा कृष्ण के मधुर स्वरूप विग्रह के दर्शन की अभिलाषा सातवीं हृदय में श्री कृष्ण के प्रति प्रेमासक्ति आठवा भगवान के रूप लीला का ध्यान नवमी अनन्य भगवत् भक्ति व दृढ हरि अनुराग और दशमी परम प्रेम भक्ति की रस सरिता में सदैव तृप्त रहना। इस अनुक्रम का जो अनुसरण करते हैं वे धीरे-धीरे जगत में निरबैर होकर परम प्रेम को पा जाते हैं।

सर्वदा सर्व भावेन निश्चिन्ति तै र्भगवानेव भजनीयः ॥ 79॥

सर्वदा सब प्रकार के भाव (दास सख्य माधुर्य वातसल्यादि) से निश्चिन्त होकर अर्थात संसारिक चिन्ताओं को त्यागते हुये निरन्तर भगवान का ही भजन करना चाहिये।

पूर्वकथित दृढता व निश्चय के नवमें चरण में भक्त स्वाभाविक परम प्रेम को प्राप्त कर लेता है। चाहे जिस इष्ट व मार्ग से भी भक्ति उपासना करें अपने इष्ट में दृढ निश्चय व अनन्य श्रद्धा हो जाने पर निरन्तर भगवान का भजन होने लगता है। इस स्थिर परम प्रेम को पाने के लिए भक्ति मार्ग के पथिक को नियमित निरन्तर भगवान श्री राधा माधव का भजन करते रहना चाहिये।

संकीर्त्यमानः शीध्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ॥ 80॥

पूर्वोक्त सूत्र कथनानुसार भगवान श्रीराधा कृष्ण का निरन्तर भजन कीर्तन दृढ़ प्रेम भाव को प्राप्त होने पर कीर्तिमान हो जाता है। भक्त तन, मन, वचन से

निर्मल हो कर प्रेमामृत परिपूर्ण हो जाता है ऐसी अवस्था में भगवान श्री राधा माधव शीघ्र ही प्रकट होकर अपना अनुभव व स्वरूप दर्शन भक्त को करा देते हैं। भक्ति परमेश्वर के किसी भी स्वरूप व भाव से की जाये हृदय में विशेष परम प्रेम प्रफुल्लित होने पर भगवान भक्त को मनोअभीष्ठ स्वरूप दर्शन देकर अपना अनुभव कराते हैं।

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्ति रेव गरीयसी ॥ 81 ॥

सत्य व ज्ञान पुञ्ज प्रेमामृत श्रीराधा सर्वेश्वर को पाने के लिए तीनों काल तीनो भाव व मन कर्म वचन से भक्ति ही सत्य है, भक्ति ही श्रेष्ठ है। उपासना साधन के अन्य तीन मार्ग है। कर्म, ज्ञान, योग व भक्ति यह भक्ति सहित चार व भक्ति ने अतिरिक्त तीन है। कर्म, ज्ञान और योग इन तीनों मार्गों में भी प्रमुख रूप से भक्ति ही प्रविष्ठ है इन सब उपासना मार्गों से भक्ति के द्वारा ही अपने परम इष्ट की प्राप्ति व अमृत स्थिति प्राप्त होती है। किसी भी उपासना में भक्ति न हो तो वह उपासना प्राथमिक तौर पर भी सफल नहीं होती अतः इन सत्य मार्गों में भक्ति ही प्रमुख रुप से व्याप्त है क्योंकि भक्ति के प्रमुख अङ्ग परम प्रभु में विश्वास,आस्था, श्रद्धा, निष्ठा, लगन, रूचि, नियमित भजन, स्वाध्याय, चिन्तन, सतसंग व ईष्ट समर्पण है। भक्ति के इन अङ्गों के बिना कर्म, ज्ञान व योग कोई भी सिद्ध नहीं होता। इन सब सत्य मार्गों में श्री हरि की भाव-भक्ति ही सहज, सरल, व सबके लिए सुलभ व उपयुक्त है, अतः श्री हरि को पाने के लिए भगवत-भाव-भक्ति ही सत्य व सर्वश्रेष्ट है। भगवत प्राप्ति के लिए भक्ति हीं करनी चाहिए, भक्ति ही करनी चाहिये।

गुणमहात्मयासक्तिरूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तन्ममयासक्ति परम विरहासक्ति रूपा एकधाप्यैकादशधा भवति ॥ 82 ॥

आर्तादि रूप वाली प्रियतम के निश्चय से परिपूर्ण परम प्रेम वाली यह भक्ति मनोभाव के अनुसार ग्यारह प्रकार की है। गुणमहात्म्यारूपा, पूजा, स्मरणा, दास्या, सख्या, कान्ता, वात्सल्या, निवेदना, तन्मया, परमविरहा यह परम प्रेम भक्ति के ग्यारह भाव है। इनमें से किसी भी भाव से भक्त अपने-अपने भाव के अनुसार परम प्रियतम प्रभु श्री सर्वेश्वर की भक्ति करता हुआ भगवान को प्राप्त करता है।

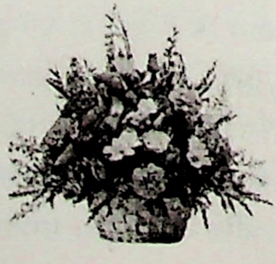
इत्येवं वदन्ति जन जल्पनिर्भया एकमताः कुमार व्यास शुक शाडिल्या गर्ग विष्णु कोडिन्य शैषोंद्धवारूणि बलि हनुमान द्विभीष्णादयो भक्तयाचार्याः ॥ 83 ॥

सनक सनन्दन सनातन व सनतकुमार वेदव्यासजी, शुक देव जी, शाडिल्य ऋषि, गर्ग ऋषि, विष्णु, कोडिन्य, शेष, उद्धव, आरूणि-(निम्बार्काचार्य) बली, हनुमान विभिषणादि भक्ति मार्ग के आचार्यों ने लोकनिन्दा, स्तुति, लाभ-हानी, की फलाकांक्षा से रहित होकर समर्पण पूर्वक निरन्तर परम प्रेम भक्ति को ही एक मत से सर्व श्रेष्ट कहा है।

आरूणी निम्बार्काचार्य जी ने कहा है-"कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम" "कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते" "ययाभवेत्प्रेम विशेष लक्षणा।" परम प्रेम विशेष लक्षणा श्री राधा कृष्ण का भक्तिरस ही परम है।

य इदं नारद प्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभते इति ॥ 84 ॥

जो भगवान शिव द्वारा अनुशासित नारद जी द्वारा कहे हुऐ इस भक्ति सूत्र के अनुशासन पर विश्वास करेगा, अर्थात आस्था से इस भक्ति सूत्र में कथित सिद्धान्त का श्रद्धा से आचार, पालन व भक्ति उपासना करेगा वह (आर्त करूण व विनय भाव को प्राप्त होकर) अनन्य परम प्रेम भक्ति को प्राप्त कर परम प्रियतम भगवान श्री राधामाधव के अमृतमय सानिध्य का सुखानुभव करेगा। भगवान के नित्य धाम वृंदावन के रास विहार में प्रविष्ठ हो जावेगा। नित्य धाम में युगल विहारी के रास रसोत्सुख में सम्मिलित होगा।



श्रीसुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य प्रणीत-

॥ वेदान्तदशश्लोकी ॥

ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ॥ १ ॥
अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्।
मुक्तञ्च बद्धं किल बद्धमुक्तं प्रभेदबाहुल्यमथापि बोध्यम् ॥ २ ॥
अप्राकृतं प्राकृतरूपकञ्च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र ॥ ३ ॥
स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-मशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥ ४ ॥
अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्त्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥ ५ ॥
उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे ॥ ६ ॥
सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकंश्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्रसाधिता ॥ ७ ॥
नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात् संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा-चिंत्यशक्तेरविचिंत्यसाशयात् ॥ ८ ॥
कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा ॥ ९ ॥
उपास्य रूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनी रूपमथैतदासे ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः ॥ १० ॥